

“जब कुँवर उदैभान को वे इस रूप से व्याहने चढ़े और वाम्हन जो अंधेरी कोठरी में सुँदा हुआ था उसको भी साथ ले लिया और बहुत से हाथ जोड़े और कहा ‘वाम्हन देवता, हमारे कहने सुनने पर न जावो, तुम्हारी जो रीत चली हुई आई है बताते चलो।’ एक उड़न-खटोले पर वह भी रीत बता के साथ हो लिया।” राजा इन्दर और महेन्द्रगिर ऐरावत हाथी पर झूलते-झालते देखते-भालते चले जाते थे। राजा सूरजभान दूल्हा के घोड़े के साथ माला जपता हुआ पैदल था। इसी में एक सन्नाटा हुआ। सब घबरा गए। उस सन्नाटे में जो वह १० लाख अतीत थे सब जोगी से बने हुए सब माले मोतियों की लड़ियों के गले में डाले हुए और गातियाँ उसी ढव की बाँधे हुए मिरिगछालों और वधंवरोँ पर आ ठहर गए। लोग के जियो में जितनी उमंग छा रही थी वह चौगुनी पचगुनी हो गई। सुखपाल और चंडोल और रथों पर जितनी रानियाँ थी महारानी लछमीवाम के पीछे चली आतियाँ थीं।”

लल्लूलाल (स० १८२०-१८८२) ने फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्रिस्ट के कहने पर प्रेम-सागर लिखा। इसके अतिरिक्त आपने चार और गद्य-प्रथ भी लिखे—‘सिंहासन-वत्तीमा’, ‘बेंताल-पचीसी’, ‘शकुन्ता नाटक’ और ‘मा मोनल’। प्रेम-सागर की भाषा में उर्दू-जब्दों तथा मुहावरों का नाम तक नहीं है, बल्कि आद्योपात् शुद्ध व्रज-भाषा की धूम है जैसा कि एक उद्धरण से स्पष्ट होगा —

“श्री गुरुदेव जी बोले—राजा जिस समय श्री कृष्णचन्द्र जन्म लेने लगे तब ही के जी में ऐसा आनन्द उपजा कि दुख नाम को भी रहा। हर्ष से बन उपवन लगे हरे हो-हो फलने फूलने, नदी नाल

सरोवर भरने, तिन पर भौंति भौंति के पक्षी कलोलें करने और नगर-
नगर गाँव-गाँव घर-घर भंगलाचार होने, ब्राह्मण ब्रह्म रचने, दशो-
दश दिशा के दिक्पाल हर्षने, दादल ब्रजमण्डल पर फिरने, देवता अपने-
अपने विमानों में बैठे आकाश में फूल वर्षाने, विद्याधर, गंधर्व, चारण,
बोल दनामे भेरी बजाय-बजाय गुरु गाने लगे, और पृथ्वी और उर्वशी आदि
सब अपनी नाच रहीं थीं कि ऐसे समय भादों वदी अष्टमी दुधवार
रोहिणी नक्षत्र में साधी रात को श्री कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया, और
मेघवर्षा, चन्द्रमुख, कमलगदन हो, पीताम्बर बाँधे मुकुट धरे, बंजनी-
नाल और रत्न-ज्विती आभूषण पहरे चतुर्भुज रूप धिये शरत् चक्र गदा
पद्म लिये बसुदेव देवकी को दर्शन दिया। देखते ही अचम्भे में ही उन
दोनों ने ज्ञान में विचारा तो आदि पुरुष को जाना, तब हाथ जोड़
दिगली पर बहा—हमारे बड़े भाग्य जो आपने दर्शन दिया और जन्म
मरण का निवेदा दिया।

एतना बात पहिली बधा सब सुनाई, जैसे जैसे बस ने हृषिक
था। तब श्री कृष्णचन्द्र बोले—तुम सब किसी बात की जिन्ना बात में
न बसो, बसो कि मैंने तुम्हारे हृषिक दूर करने ही को इच्छा की
है, पर इस समय मुझ गोपूत पट्टे में, और इसा दिवस जन्म
में लक्ष्मी हुई है, का बस को लाओ, बदन जगह ब बदन बदन
हो को हुनो।

तो—मम सरोवर पर किसी मोटी को न लाओ

हैरानी बसत बसत तूँ बस कि जगह।

धिर बस को नगर बसत दिवस, हृषिक बसत नगर बसत बसत

ऐसे समुद्र के देवकी को समझाया भी नहीं था... वह मेरे
शोर धरती माया केना ही।"

मिथिलानगरीमी आदि की भाषा प्रेम-भाषा में मिलते हैं। ...
आत्म-प्राप्तनुसार विवेक, उचित, ...

इस गण-पत्रिका की संपादिका (सं. १९३४-१९३५)
उपरोक्त गीत किम्बदन्त के आशयानुसार 'मिथिल-नगर' में
आपकी भाषा प्रेम-भाषा की भाषा में मिलते हैं। आपकी भाषा ...
में आने वाली गती होती है। गण-भाषा के ...
मात्र इन्हें उचित करने का भी प्रयोग दिखाने देना है। ...
भाषा का नमूना दिया जाता है —

ऐसे कहते हुए वहाँ से तुरन्त हथित हो उठे। वो भीतर जा मुनि
जो आश्चर्य व्यक्त करी थी, सो पण्डित राजी को सब सुनाई। वह भी
मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो मिथिलानगर कदने
महाराज ! जो यह सब है वो अब ही लोग भेज... मर उमरो बुता है
लीजिए, क्यों कि मारे शोक के मेरी छाती फटती है। ... आत्म
वधाया बाजने लगा। हथित हो नरेश ने वहाँ से समाप्त जा शक्ति
कहा कि महाप्रभु ! आपने मेरा बड़ा स्वरु मिटाया है। इस आत्म
का कुछ पारावार नहीं। अब निश्चिन्त हो इहाँ निराजिए, कन्या मैं
आपको मैं दूंगा। ऐसे कह तुरन्त सेवकों के सहित पालकी भेज ना
समेत बेटी को यन से मंगा लिया। ... भीतर बाहर नृप के मानि

मेरे भीड़ के उथल पुथल हो गया। ... भौंति-भौंति से राजन न
... हथित हो राजा ने कन्यादान कर सहस्र दायी, लाख घोड

गौ, असंख्य वासन भूषण वस्त्र रुचा जँवाई को चौतुक दिया।

अपि आशीस दे बोले कि धन्य हो राजा रघु! क्यों न हो।...ईश्वर
करे वो ही सदा फूले फले रहो और यह हमारे चौतुक के हाथी, घोड़े
द्रव्य तुम्हारे ही घर में रहें, क्यों कि धन के घसने वाले तपस्वियों को
इनसे क्या काज।”

उनके पश्चात् लगभग ६० वर्ष तक हिंदी-गद्य-धारा का प्रवाह रुका
रहा। इसका कारण था अंगरेजी शासन द्वारा अदालतों और दफ्तरों में
उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रोत्साहन। इसका फल यह हुआ कि उर्दू
की उन्नति हिंदी से पहले प्रारंभ हो गई। तब भी हिंदी-भाषा के समर्थकों
ने जो धन पड़ा वह किया। राजा शिवप्रसाद ने सं० १६०२ में काशी से
‘बनारस अक्षरार’ निकाला। इसी भाषा तो उर्दू थी परंतु लिपि देवनागरी
थी। चार-पाँच वर्ष बाद काशी से ‘सुधारक’ निकाला गया। सं० १६०६
में मुंशी सदासुखलाल ने आगरा से ‘बुद्धि-प्रकाश’ निकाला। हिंदी का प्रभाव
उन समय कुछ फैल चुका था। वही कारण था कि स्वामी दयानंद सरस्वती
ने गुजराती होते हुए भी, अपना मुख्य ग्रंथ ‘सत्यार्थ-प्रकाश’, गुजराती
भाषा में न लिखा, हिंदी में लिखा। वरन् कुछ लोग यह अनुभव करने
लगे थे कि उर्दू शब्दों का बहिष्कार किया जाना चाहिए। राजा लक्ष्मणसिंह
(सं० १८८३-१८९६) ने सरकारी पदाधिकारी होते हुए भी राजा शिव-
प्रसाद की उर्दू-फारसी रग में गीं हिंदी का विरोध किया। सं० १८९८
में अपने प्रज्ञा-हिंदी-पत्र निकाला। सं० १८९६ में अपने कलिदास के
प्रसिद्ध ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’ का हिंदी में गद्य-वृत्त किया। मीर हाँ अपने
रघुवंश का भी उर्दू का दिया। वद में अपने शाकुन्तल के पद्यों का भी

साप्ताहिक पत्र हैं। हिंदी के दैनिक पत्रों का जीवन सदा संकटमय रहता है। परंतु पहले से इनकी दशा सुधर गई है। बंबई का 'वेकेश्वर समाचार पत्र' तथा काशी का 'आज' ये नव से पुराने पत्र हैं। 'दैनिक प्रताप' (कानपुर) 'अर्जुन' (दिल्ली), और 'भारत' (प्रयाग) दैनिक पत्रों में अच्छे हैं। कुछ वर्षों से लाहौर में दैनिक 'हिंदी-मिलाप' भी निकल रहा है। 'रंगभूमि', 'चित्रपट' आदि फ़िल्म-संबंधी अच्छे पत्र हैं। इस प्रकार हिंदी की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है और आशा है कि यह राष्ट्रीय-भाषा बन जाए।

परंतु राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न बड़ा विकट रूप धारण कर रहा है। मुसलमान चाहते हैं कि उर्दू राष्ट्रीय भाषा हो, हिंदू, अधिक संख्या में होने के कारण, हिंदी के पक्ष में हैं। दोनों के समझौते के रूप में 'हिंदुस्तानी' भाषा के लिए जोर दिया जा रहा है। 'हिंदुस्तानी' से समझा जाता है सर्व-साधारण की भाषा। परंतु इनसे भी समस्या सुलझी नहीं। मुसलमान उर्दू, फ़ारसी, अरबी शब्दों से भरपूर बोली को ही हिंदुस्तानी समझते हैं; कुछ हिंदू भी मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए वैसी ही भाषा बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं। श्रुत काका कल्लेकर तथा कुछ उनके मित्र ऐसा ही कर रहे हैं। सर्व-साधारण की एक भाषा बनना तभी संभव है जब सब की इच्छा हो। वहा सब की इच्छा तो दिखाई नहीं देती। एक बात और भी विचारणीय है। बोलचाल की भाषा और लिख भाषा तो सदा से भिन्न रहती आई है और भिन्न रहेंगी। संस्कृत में इसी आधार पर 'प्रकृत' (अर्थात् स्वभाविज) और 'संस्कृत' (अर्थात् परिनिर्जित) शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतएव यह कैसे संभव है कि सर्व-साधारण की अर्थात् बोलचाल की भाषा लिख भाषा का भी स्थान ग्रहण कर ले।

द्विवेदी जी द्वारा निर्दिष्ट पथ के कई हिंदी-गद्य-लेखक पथिक बन गये सर्वश्री बाबू श्यामसुंदरदास, पद्मसिंह शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, बनारसीदास चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, मुंजी प्रेमचंद, रायकृष्णदास, चतुरसेन झाव्री सुदर्शन, श्रीराम शर्मा, पदुमलाल पुत्रालाल वत्स्यी, जयशंकर 'प्रसाद', 'उग्र' गुलाबराय, शिवपूजनसहाय, सियारामशरण गुप्त, जनेन्द्रकुमार इत्यादि सैकड़ महानुभावों ने हिंदी-भाषा का सिर ऊँचा किया है। हिंदी की समुन्नत अवस्था देखकर उड़ीसा, मद्रास आदि प्रांतों की विभिन्न-भाषा भाषी हिंदु-जनता ने भी इसे अपनाना प्रारंभ कर दिया है। वहाँ नहीं, कुछ मुसलमान भाई भी हिंदी-क्षेत्र में काम कर रहे हैं। प्राचीन हिंदी-कविता-जगत में अमीर खुसरो, रमखान, रहीम इत्यादि यश प्राप्त कर चुके हैं। प्राचीन हिंदी-गद्य में इना-अल्लाखाँ ने हिंदी-भाषा की भारी सेवा की। आधुनिक हिंदी-गद्य में जहूर वत्स्य 'हिंदी-कोविद,' मिर्जा अजीम बेग चगताई, अख्तर हुसैन रायपुरी इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार सैकड़ों लेखक और लेखिकाएँ अपना अनन्य समन लगाकर हिंदी में विविध विषयों पर ग्रंथ और लेख लिखकर उसकी जगत की अत्यंत समुन्नत भाषाओं की समकक्ष बनाने में प्रयत्नशील हैं।

हिंदी में दैनिक, साप्ताहिक, और मासिक पत्रों की संख्या कमरा बढ़ रही है। 'सरस्वती', 'विशालभारत', 'विश्वमित्र', 'माधुरी', 'हम', 'सुधा', 'वीणा', 'गंगा' आदि कई अच्छे मासिक पत्र हैं। 'चाँद', 'आर्य-महिला', 'सहेली', 'जाति' आदि स्त्रियों के लिये विशेष रूप से निकाले गये हैं। 'माया' केवल कहानियों पर ही सीमित है। वार्षिक दृष्टि से 'कन्याशा' सर्वाधिक कीमती पत्रिका है। 'प्रताप' (कानपुर) तथा 'कर्मवीर' (गुडगा) ये अच्छे

साप्ताहिक पत्र है। हिंदी के दैनिक पत्रों का जीवन नया संकटमय रहता है। परंतु पहले से इनकी दशा सुधर गई है। दंबई का 'वेकेश्वर समाचार पत्र' तथा कशी का 'आज' ये नव से पुराने पत्र हैं। 'दैनिक प्रताप' (कानपुर) 'श्रद्धा' (दिल्ली), और 'भारत' (प्रयाग) दैनिक पत्रों में अच्छे हैं। कुछ वर्षों से लाहौर में दैनिक 'हिंदी-मिलान' भी निरन्तर रहा है। 'रंगभूमि', 'चित्रपट' आदि फ़िल्म-संबंधी अच्छे पत्र हैं। इस प्रकार हिंदी की उत्तरोत्तर वृद्धि होनी जा रही है और अच्छा है कि यह राष्ट्रीय भाषा बन जाए।

परंतु राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न बड़ा विकट रूप धारण कर रहा है। मुसलमान चाहते हैं कि उर्दू राष्ट्रीय भाषा हो, हिंदू, अधिकांश संख्या में होने के कारण, हिंदी के पक्ष में हैं। दोनों के समन्वय के रूप में 'हिंदुस्तानी' भाषा के लिए जोर दिया जा रहा है। 'हिंदुस्तानी' से समझा जाता है सर्व-साधारण की भाषा। परंतु इससे भी समझा सुलझी नहीं। मुसलमान उर्दू, फ़ारसी, अरबी शब्दों से भरपूर बोली को ही हिंदुस्तानी समझते हैं; कुछ हिंदू भी मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए वैसी ही भाषा बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं। श्रद्धुत काका जल्लेकर तथा कुछ उनके मित्र ऐसा ही कर रहे हैं। सर्व-साधारण की एक भाषा बनना तभी संभव है जब सब की इच्छा हो। यहाँ सब की इच्छा तो दिखाई नहीं देती। एक बात और भी विचारणीय है। बोलचाल की भाषा और शिष्ट भाषा तो नया में भिन्न रहनी चाहिए और भिन्न रहेंगी। संस्कृत में इन्हीं अर्थों पर 'प्रकृत' (अर्थात् स्वभाविक) और 'संस्कृत' (अर्थात् परिमलित) शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतएव यह कैसे संभव है कि सर्व-साधारण की अर्थात् बोलचाल की भाषा शिष्ट भाषा का भी स्थान ग्रहण कर ले।

हिन्दुस्तानी बोली के प्रचार में गवार्न-मिन्ट्रिज़ का बहुत साधन था रहा है । भारतीय सरकार की भी इसका हिन्दुस्तानी बोली को बढावा देने की है । समुदाय-मंत्र में उगी तारण हिन्दुस्तानी एकदमही गम की संस्था मोली गई है ।

अम्नु । उस गमने में, आशा है, हिंदी-शुद्ध हिंदी-की प्रगति को ठेक न लगेगी । हिंदी-साहित्य के गाव-गाथ यदि हिन्दुस्तानी बोली में साहित्य बनप सकता है तो सब फले-फूलो ।

गद्य-चयनिका

१-नल-दमयन्ती

[राजा शिवप्रसाद]

विदर्भ देश के राजा भीमसेन की कन्या भुवन-मोहनी दमयन्ती का रूप और गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था। निपद्य देश के राजा वीरसेन के पुत्र महागुणवान अतिसुशील धार्मिक 'नल' से स्वयंवर में उसने जयमाल देकर विवाह किया। बारह बरस तक दोनों के सुख-चैन से दिन कटे और इस अन्तर में उनके एक लड़की और एक लड़का भी हो गया। यद्यपि मनुजी ने धर्मशास्त्र में पासा खेलना मना लिखा है, पर नल को इसका शौक था। वह अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ खेला करता था। यहाँ तक कि दाव लगाते-लगाते सारा राज्य हार गया और सिवाय एक धोती के और कुछ भी पास न रहा। नल दमयन्ती को साथ लेकर बाहर निकला। लड़का-लड़की को दमयन्ती ने पहले ही से अपने बाप के घर भेज दिया था। पुष्कर ने

क्योंकर देख सकूँगा। यह मुझे छोड़ने पर कभी राज़ी न होगी। पर जो मैं इसे यहाँ सोती हुई छोड़ दूँ तो किसी न किसी तरह अपने पिता के घर पहुँच जायगी। निदान यह सोच-विचार के उस चन्द्रवदनी गज-गामिनी को उसी वृज के तले छोड़ा और आप एक तरफ को चला। नल के पास कपड़ा पहरने को न था। एक चिड़िया पर उसे पकड़ने को धोती डाली थी। वह चिड़िया धोती समेत उड़ भागी ! जब विपत के दिन आते हैं तो सारे सामान ऐसे ही बँध जाते हैं। निदान राजा नल ने चलते समय दमयन्ती की साड़ी काट कर आधी उसमें से अपने पहरने को ली और आधी उसके वदन पर रहने दी।

इस मनुष्य का मन भी विधाता ने किस प्रकार का रचा है कि जब कोमल होता है तो मोम से भी अधिक पिघलता है, और जब कड़ा होता है तो वृज को भी मात करता है। नल के जी की दशा उस समय नल ही जानता था। थोड़ी-थोड़ी दूर जा-जा कर दमयन्ती के देखने को फिर लौट आता था। निदान नल जब दूर निकल गया और दमयन्ती की आँख खुली तो उसे अपने पास न पाकर वह स्मिर धुनेने और हाथ पटकने लगी, मूर्च्छा खाकर धरती पर गिर पड़ी। आँसुओं की धारा वहाँ लगी और पुकार-पुकार कर रोने लगी कि—हे प्राणनाथ ! मैंने क्या अपराध किया था जो मुझ दासी को तुमने इस ढँव जङ्गल में अकली छोड़ा ! अपनी

दमयन्ती रोती-विलापती जङ्गल-पहाड़ों को छानती, सिंह और हाथियों से बचती सौ-सौ आफ़तें भेलती वनवासी मुनि लोग और बंजारों से पता लगाती, सुबाहु नगर में पहुँची और वहाँ के राजा की रानी के पास दासी बन के रहने लगी। वहाँ से उसके पिता के भेजे हुए ब्राह्मण ढूँढ़-खोज कर विदर्भ नगर को ले गये। राजा नल दमयन्ती के विरहे में शोकाकुल होकर घूमता फिरता अयोध्या में आ निकला और 'बाहुक' के नाम से वहाँ के राजा ऋतुपर्ण का सारथि बना। दमयन्ती के बाप ने नल के ढूँढ़ने को नगर-नगर ब्राह्मण भेज दिये थे। उनमें से सुदेव नामक ब्राह्मण अयोध्या से यह समाचार लाया कि बाहुक नाम एक सारथि, जो राजा ऋतुपर्ण के यहाँ है, दमयन्ती का नाम सुनते ही आँखों में आँसू भर लाया पर उसने अपने-तर्ई सिवाय सारथि होने के और कुछ न बतलाया। दमयन्ती यह सुनते ही ताड़ गई कि हो न हो वह मेरा ही स्वामी राजा नल है और अपने बाप से उसके बुलाने की प्रार्थना की। पर जब वह भीमसेन के बुलाने से न आया और सारे उपाय निष्फल हुए तब दमयन्ती ने अपने बाप से कह के राजा ऋतुपर्ण को यह लिखवाया कि नल के मिलने की अब कुछ आस न रहने से दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर रचा जावेगा, सो आप कृपा करके शीघ्र आइये। और दिन स्वयंवर का ऐसा समीप ठहराया कि बिना राजा नल के हँके कोई थोड़ा उस अल्प काल में अयोध्या से विदर्भ तक न पहुँच



पेटा-पेटी हैं, पर बहुत दिनों से देखा नहीं । इन्हें देख के मुझे याद आगये । अब इन्हें इनकी माँ के पास ले जा विचारे आज नल के बालक हैं, कल किसी दूसरे के हँ जायँगे । नारी ही धन्य है, आज एक पति छोड़ा, कल दूसर कर लिया । परन्तु रात बीते तो मैं भी यह तमाशा देखूँगा कि राजा नल की सती रानी दमयन्ती किस प्रकार दूसरा भर्ता करती है । केशिनी ने आके दमयन्ती से सारी बातें ज्यों की त्यों कह दीं, और बोली कि यह तो कोई दैवी पुरुष है । जितनी सामग्री हमारे यहाँ से राजा ऋतुपर्ण को दी गई थी, इसने देखते ही देखते सब रींघ के तैयार कर ली । दमयन्ती ने कहा—‘जा, जो-जो कुछ उसने रींघा हो थोड़ा-थोड़ा सब मेरे पास ले आ ।’ केशिनी ले आयी । दमयन्ती ने चक्खा देकर उनमें वही स्वाद पाया जो राजा नल के बनाये भोजन में पाती थी । राजा नल इस काम में बड़ा ही निपुण था ।

दमयन्ती ने अपनी माँ से जाके कहा कि मेरा स्वाग आगया । मुझे उसके पास घुड़साल में जाने की आशा दीजिए वह हम संचाद को सुन कर अत्यन्त हर्षित हुई और दमयन्ती को घुड़साल में जाने की आशा दी । वह अपना लड़का-लड़क माथ लिये नल के पास घुड़साल में गई । नल को सारथी के रूप में नन-द्वीन मुख-मलीन देख के अत्यन्त शोकाकुल हुई आँखों ने आँसुओं की धारा बहा चली । बोली—‘हे प्राणनाथ यह कौन सी नीति थी जो आपने मुझ निरपराधिनी अवल

को अकेली उस जङ्गल में छोड़ा ?' नल ने लजित हो के उत्तर दिया कि 'हे प्राणप्यारी ! क्या मैं कभी तुमको छोड़ सकता था, परन्तु जिस विपरीत बुद्धि ने मुझसे मेरा राज्य छुड़ा लिया, उसी ने तुम्हें भी मुझसे बिछुड़ाया, पर जो कुछ तुम्हारे दारुण विरह का दुःसह दुःख मैंने सहा है वह मेरा शरीर कहेगा । जो हो, पतिव्रता स्त्री अपने पति का दोष देख कर भी उसकी निन्दा नहीं करती है । पर तुम तो कल किसी दूसरे की हो जाओगी । तुम्हें अब इन बखेड़ों से क्या काम है ?'

दमयन्ती ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि महाराज ! राजा ऋतुपर्ण को केवल आपके बुलाने के लिए स्वयंवर का पत्र लिखवाया था और आप देखिये कि उसके सिवाय और कोई भी यहाँ नहीं आया । मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जो मैं आज आपसे न मिलूँ तो आग में जल मरूँ ।

निदान यह बात धीरे-धीरे राजा भीमसेन और ऋतुपर्ण तक भी पहुँची । वे इस बात के सुनने से परम आनन्दित हुए । राजा ऋतुपर्ण ने नल से कहा कि महाराज ! मैंने आपको न जानकर बड़ी अनीति की । मेरा कहा-सुना और भूल-चूक आप सब क्षमा कीजिये । राजा ऋतुपर्ण तो अयोध्या की ओर सिधारा और भीमसेन ने नल से यह कहा कि अभी निषध देश में आपका जाना उचित नहीं, आप मेरा राज-पाट लीजिये, इसी जगह रहिए । पर जब नल ने ससुराल में रहना स्वीकार न किया और अपने देश में जाने की

की तो राजा भीमसेन ने एक रथ, सोलह हाथी, पाँच सौ घोड़े और छै सौ पियादे साथ देकर निपध देश की ओर विदा किया और दमयन्ती को अपने ही पास रखवा ।

राजा नल ने निपध देश में जाकर अपने भाई पुष्कर से यों कहा कि आग्रो एक बार और भी तुम्हारे साथ पासा खेलें । जो हम हारें तो तुम्हारे दास होकर रहें और जो तुम हारो तो हम अपना सारा गया हुआ राज तुमसे फेर लें । भगवान का करना, उस वाजी में नल ही की जीत हुई । पुष्कर मारे डरके वेंत की तरह काँपने लगा, परन्तु नल ने समझाया और कहा कि 'भाई ! इसमें तुम्हारा क्या अपराध है ? यह सब अपने दिनों का फेर है । बहुत देखटके रहो और जिस ढव से पहले काम करते थे उसी तरह करते रहो ।' फिर नल ने दमयन्ती को भी वेटा-वेटी समेत विदर्भ नगर से अपने पास बुलवा लिया और बहुत काल तक सुख-चैन से राज किया । जैसा दिन इनका फिरा, भगवान सबका फेरे ।

पुनर्मिलन

[राजा लक्ष्मणसिंह]

(नेपथ्य में) अरे ऐसी चपलता क्यों करता है ? क्यों तू अपनी वान नहीं छोड़ता ?

दुष्यन्त—(वान लगाकर) हैं ! ऐसे स्थान में ताड़ना का क्या काम है ? वह सीख किसको हो रही है ? (जिधर बोल सुनाई दिया वधर देखकर और आश्चर्य करके) आहा ! यह किसका पराक्रमी बालक है जिसे दो तपस्विनी रोकती हैं तो भी खेल में नाहर के भूखे बच्चे को खेंच लाता है ।

(सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ एक बालक आया और

उत्ते साथ दो तपस्विनी आई)

बालक—अरे सिंह ! तू अपना मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिन्नूँगा ।

एक तपस्विनी—ये हठीले बालक ! तू इस वन के पशुओं को क्यों सताता है ? हम तो इनको बाल-बच्चों के सम-

रखती हैं। तेरा खेल मैं भी साहस नहीं जाता। इसी से तेरा नाम ऋषि ने सर्वदेवन रक्खा है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) आहा ! क्या कारण है कि मेरे स्नेह इस लड़के में पुत्र का-सा होता आता है ? हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू इस बच्चे को छोड़ न देगा तो सिंहिनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—(मुसक्याकर) ठीक है सिंहिनी का मुझे ऐसा डर है। (रोप में आकर होठ काटने लगा)

दुष्यन्त—(आप ही आप चकित-सा होकर) यह किसी बालिका का बालक है। इसका रूप उस अग्नि के समान है जो सूखा कांठ मिलने से अति प्रज्वलित होती है।

पहली तपस्विनी—हे बालक ! सिंह के बच्चे को छोड़ दे मैं तुझे उससे भी सुन्दर खिलौना दूँगी।

बालक—पहले खिलौना दे दो। लाओ कहाँ है (हाथ पसारकर)

दुष्यन्त—(लड़के के हाथ को देखकर आप ही आप) आहा ! इसके हाथ में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उँगलियों पर कैसा अद्भुत जाल है और हथेली की शोभा प्रातःकमल को भी लज्जित कर रही है।

दूसरी तपस्विनी—हे सखी सुव्रता ! यह बातों से न मानेगा

जा तू कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार शंकर के खेलने का रक्खा है सो ले आ ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिए आती हूँ । (जाती है)

बालक—तब तक मैं इसी सिंह के बच्चे से खेलूँगा ।

दूसरी तपस्विनी—(बालक की ओर देखकर और मुसक्याकर)
तेरी बलैया लूँ, अब तू इसे छोड़ दे ।

। दुष्यन्त—(आन ही आन) इस लड़के के खिलाने को मेरा जी कैसा चाहता है । (आह भरकर) धन्य हैं वे मनुष्य जो अपने पुत्रों को कनियाँ लेकर उनके अंग की धूलि से अपनी गोद मैली करते हैं और पुत्रों के निष्कारण हँसी से खुलकर उज्ज्वल दाँतों की शोभा दिखाते और तुतले वचन बोलते हैं ।

दूसरी तपस्विनी—(डँगली उठाकर) क्यों रे ढीठ ! तू मेरी बात कान नहीं धरता है । (इधर उधर देखकर) कोई ऋषि यहाँ है ? (दुष्यन्त को देखकर) अहो, परदेशी ! आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंह के बच्चे को छुड़ाओ ।

दुष्यन्त—अच्छा (लड़के के पास जाकर और हँसकर) हे ऋषिकुमार ! तुमने तपोवन के विरुद्ध यह आचरण क्यों सीखा है जिससे तुम्हारे कुल को लाज आती है । यह तो काले साप ही का धर्म है कि मलयगिरि से लिपटकर उसे दूषित करे ।
(लड़के ने सिंह को छोड़ दिया)

दूसरी तपस्विनी—हे बटोही ! मैंने तुम्हारा बहुत गुन माना

रखती हैं। तेरा खेल में भी साहस नहीं जाता। इसी से नाम ऋषि ने सर्वदमेन रक्खा है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) आहा ! क्या कारण है कि जेह इस लड़के में पुत्र का-सा होता आता है ? हो न हो हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू इस बच्चे को छोड़ न तो सिंहिनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—(मुसक्याकर) ठीक है सिंहिनी का मुझे ऐसा डर है। (रोप में आकर होठ काटने लगा)

दुष्यन्त—(आप ही आप चकित-सा होकर) यह किसी बली का बालक है। इसका रूप उस अग्नि के समान है सूखा कांड मिलने से अति प्रज्वलित होती है।

पहली तपस्विनी—हे बालक ! सिंह के बच्चे को छोड़ दे मैं तुझे उससे भी सुन्दर खिलौना दूँगी।

बालक—पहले खिलौना दे दो। लाओ कहाँ है (हाथ पसारकर)

दुष्यन्त—(लड़के के हाथ को देखकर आप ही आप) आहा इसके हाथ में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उँगलियों पर कैस अद्भुत जाल है और हथेली की शोभा प्रातःकमल को लज्जित कर रही है।

दूसरी तपस्विनी—हे सखी सुवना ! यह बातों से न माने

हैं। हमने दुय्यथी बात कही थी अर्थात् सुन्दर पर दिखाया था।

दुय्यन्त—(आप हा आप) इसकी माँ मेरी ही प्यारी शकुन्तला है या इस नाम की कोई दूसरी स्त्री है। यह वृत्तान्त मुझे ऐसा व्याकुल करता है जैसे मृगवृष्णा प्यासे हरित को निगश करती है।

बालक—जो यह मोर चले फिरेगा और उड़ेगा तो मानूँगा, नहीं तो नहीं।

पहली तपस्विनी—(धवगग) ग्रहा ! बालक की बाँह से रक्षाबन्धन कहाँ गया ? (गिलोता ने लिया)

दुय्यन्त—धवगाग्रो मत, जब यह नाहर से खेल रहा था तब इसके हाथ में गड़ा गिर गया था सो पड़ा है। मैं उठाकर तुम्हें दिये देता हूँ। (उठाना चाहता)

दोनों तपस्विनी—ह ह, इस गंडे को झुना मत।

पहली तपस्विनी—हाय, इसने तो उठा ही लिया। (दोनों धपप म अचम्म म दगल लगी)

दुय्यन्त—गड़ा यह लो परन्तु यह कहो कि तुमने मुझे इसका दान म राखा क्यों गा ?

दूसरी तपस्विनी—इसलिये रोखा गा कि इस यन्त्र में बड़ी शक्ति है। इस समय इस शक्ति का जातिकर्म हुआ था। यह जो म चरने के पक्ष कल्याण न यह गड़ा दिया गा। इससे ...

बालक के माँ बाप को छोड़ दूसरा कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और जो कोई उठा ले तो क्या हो?

पहली तपस्विनी—तो यह तुरन्त साँप बनकर उसको डसे।

दुष्यन्त—तुमने कभी ऐसा होते देखा है?

दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर) तो अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ।

(लड़के को गोद में ले लिया)

दूसरी तपस्विनी—आओ सुमता ! ये सुख के समाचार
बलकेशकुन्तला को सुनावे। वह बहुत दिनों से वियोग के
कठिन नेम कर रही है।

(दोनों बाहर गईं)

बालक—छोड़ो, छोड़ो, मैं अपनी माता के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र ! तू मेरे संग चलकर माता को
सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तो दुष्यन्त है, तुम दुष्यन्त नहीं हो।

दुष्यन्त—तेरा यह विवाद भी मुझे प्रतीति कराता है।

(वियोग के वयः कारण किए घोर डटे हुए बालों की

बेसी पाठ पर डले शकुन्तला आई)

शकुन्तला—(आश्चर्य से) मैं सुन तो चुकी हूँ कि बालक
क गंदे की दिव्य सामर्थ्य का गुण प्रगट हुआ परन्तु अपने
भाग्य का कुछ भरोसा नहीं है। हा इतनी याता है कि वहीं
मेधकेशी का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(लगे और शोक दोनों में) क्या गोगिनी के पैरों में यह प्यारी शकुन्तला है जिसका मुरा निराल के नियमों में पीला कर दिया है और जो बन्धन मलिन पहने, जसा कन्धे पर डाले, मुझ निर्दयी का वियोग सहती है ।

शकुन्तला—(राजा की ओर देखकर और गमय करके) क्या मेरा ही प्राणपति है जो मेरे वियोग से ऐसा कुँभला रहा है ? जो मेरा पति नहीं है तो कौन है जिसने बालक का हाथ पकड़कर अपना कहा और मुझे दूषण लगाया ? वह कौन है जिसको बालक के गंडे ने बाधा न करी ?

बालक—(दौड़ता हुआ शकुन्तला के पास जाकर) माता ! यह किसी के कहने से मुझे अपना पुत्र बताता है ।

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तेरे साथ निठुराई तो की परन्तु परिणाम अच्छा हुआ कि तैने मुझे पहचान लिया । जो हुआ सो हुआ, अब उस बात को भूल जा ।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन ! तू धीरज धर । मुझे भरोसा हुआ कि मेरे भाग्य ने ईर्ष्या छोड़ी । (प्रगट) हे आर्यपुत्र ! मेरी तो यही अभिलाषा है कि तुम प्रसन्न रहो !

दुष्यन्त—प्यारी ! भ्रम में मुझे तेरी सुध न रही थी, वरन् आज दैव का बड़ा अनुग्रह है कि तू चन्द्रमुखी फिर मेरे सम्मुख आई जैसे ग्रहण के अन्त में रोहिणी फिर अपने प्यारे कर्तुनिधि से मिलती है ।

शकुन्तला—महाराज की...(इतना कहते ही गद्गदवाणी होकर
आँसू गिरने लगे)

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! मैंने जान लिया-तू जय शब्द कहा
चाहती थी. सो आँसुओं ने रोक लिया परन्तु मेरी जय होने
में अब कुछ सन्देह नहीं है, क्योंकि आज तेरे मुखचन्द्र का
दर्शन मिल गया ।

बालक—माता ! यह पुत्र कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ । (फिर रो उठी)

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! अब तू अपने मन से मेरे अवगुणों
का ध्यान विसरा दे । जिस समय मैंने तेरा अनादर किया
मेरा चित्त किसी बड़े भ्रम में था । जब तमोगुण प्रबल होता
है बहुधा यही गति मनुष्य की हो जाती है, जैसे अन्धे के गले
में हार डालो और वह उसको सर्प समझकर फेंक दे ।

(यह कहता हुआ पैरों में गिर पड़ा)

शकुन्तला—उठो, प्राणपति ! उठो. मेरे सुख में बहुत दिन
वेग्न रहा, परन्तु तुम्हारा हित अब तक मुझमें बना है यह बड़े
मुख का मूल है । (राजा उठा) मुझ दुखिया की सुध कैसे
मापको आई सो कहो ।

दुष्यन्त—जब पश्चात्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल
पायगा तब सब वृत्तान्त कहूँगा । अब तू मुझे अपने सुन्दर
लकों से आँसू पोंछने दे जिससे मेरा यह पड़तावा दूर हो

उस दिन मैंने भ्रम में आकर तेरे आंग्रु देगे गनदेरे किम थ
(आंग्रु पोंडने को हाथ बगया ।)

शकुन्तला—(अपने आंग्रु पोंडकर ओर गजा की उगली में आंग्रु देकर) आहा ! यह वही विसासिन आंग्रुटी है ।

दुष्यन्त—इसी के मिलने मुझे तेरी मुझ आई ।

शकुन्तला—तो यह बड़े गुणभरी है कि जिसमें कि आपको गई प्रतीति मुझ पर आई ।

दुष्यन्त—हे प्यारी ! अब तू इसे पहन जैसे ऋतु के त्रि के लिये पृथ्वी फूल धारण करती है ।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा है, आपर पहने रहो ।

(मातलि आया)

मातलि—महाराज धन्य है यह दिन कि आपने फिर धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा ।

दुष्यन्त—मित्रो ही की दया से मेरी अभिलाषा पूरी हुई है, परन्तु यह तो कहो कि इस वृत्तान्त को इन्द्र जानता था या नहीं ।

मातलि—(हँसर) देवता क्या नहीं जानते हैं ? आ आओ, महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे ।

दुष्यन्त—प्यारी ! चलो और सर्वदमन की भी उगली या चलो ।—महात्मा का दर्शन कर आवे ।

शकुन्तला—आपके संग वहाँ के सम्मुख जाने में मुझे लज्जा आती है।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ समय में एक संग चलना बहुत उत्तम है। ऐसा सभी करते आए हैं। चलो विलम्ब मत करो।

[सब आगे की ओर]

(सिंहासन पर बैठे हुए कश्यप और अदिति चारों तरफ से देख रहे हैं)

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता ! तेरे पुत्र की प्रेमा का अग्रगामी मृत्युलोक का राजा दुष्यन्त यही है। इसी के धनुष का प्रताप है कि इन्द्र का वज्र केवल शोभामान रह गया है।

अदिति—इसके लक्षण बड़े राजाओं के से दिखाई देते हैं।

मातलि—(दुष्यन्त से) हे राजा ! द्वादश आदित्यों के माना प्रेता आपकी ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं जैसे किसी अपने पुत्र को देखता है। आप निकट चलें।

दुष्यन्त—क्या ये ही दक्ष की पुत्री और मरीचि के पुत्र हैं ? ये ही ब्रह्मा के पौत्र पौत्रा हैं जिनको उसने सृष्टि के लक्षणों में जन्म दिया था और जो दारुह आदिभ्यो के पित्र हलाते हैं ? क्या ये वे ही हैं जिनसे त्रिभुवनधनी इन्द्र और ... अवनत उत्पन्न हुए ?

मातलि—हाँ, ये ही हैं। (दुष्यन्त अपने हाथों में हाथों में) हे शत्रुघ्न ! राजा दुष्यन्त, जो अभी तुम्हारे पुत्र बानस में ... पूर्ण करके आया है, प्रदान करता है।

कश्यप—अखंड राज्य रहे ।

अदिति—तुम रण में अजित हो ।

शकुन्तला—महाराज ! मैं भी आपके चरणों में बात समेत प्रणाम करती हूँ ।

कश्यप—हे पुत्री ! तेरा स्वामी इंद्र के समान और पु जयन्त के तुल्य हो । इससे उत्तम और क्या आशीर्वाद है ? तू पुलोमन की पुत्री शची के सदृश हो ?

अदिति—हे पुत्री ! तू सदा सौभाग्यवती रहे और बालक दीर्घायु होकर तुम दोनों को सुख दे और कुल दीपक हो । आओ, विराजो ।

(नव बैठ गए)

कश्यप—(एक एक की ओर देखकर दुष्यन्त ने) तुम बड़े ब भागी हो । ऐसी पतिव्रता स्त्री, ऐसा आजाकारी पुत्र ऐसे तुम आप, यह संयोग ऐसा दुर्गा है मानो श्रद्धा और और विधि तीनों इकट्ठे हुए हों ।

दुष्यन्त—हे महर्षि ! आपका अनुग्रह बड़ा अपूर्व है दर्शन पीछे हुए मनोरथ पहले ही हो गया । कारण कार्य का सदा यह सम्बन्ध है कि पहले फूल होता है तब फ लगता है, पहले मेघ आते हैं तब जल बरसता है, पशु आरुपा ऐसी है कि पहले ही फल प्राप्त करा देती है ।

मातलि—महाराज ! बड़ों की कृपा का यही प्रभाव है ।

पुत्र-शोक

[भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

नेपथ्य में—

हाय ! कैसी भई ! हाय वेटा ! हमें रोती छोड़ कहाँ चले
गये ? हाय ! हाय रे !

हरिश्चन्द्र—अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और
शोक भी इसको पुत्र का है । हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने
फ्या ही निर्दय और वीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी बख
माँगना पड़ेगा ।

(रोती हुई शैव्या रोहिताम्ब का मरदा लिये आती है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय वेटा !! जब बाप ने छोड़ दिया
तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत्त और दुष्टाँ की
ओर भी तुमने न देखा ! हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन
गति होगी ! (रोती है)

हरिश्चन्द्र—हाय हाय ! इसके पति ने भी इसको छो

थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी ! अरे लाल ! एक बार तो बोले
(रोती है)

हरिश्चन्द्र—न जानें, क्यों इसके रोने पर मेरा कलेज फटा जाता है ।

शैव्या—(रोती हुई) हा नाथ ! अरे अपने गोद के बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते ? हाय ! अरे तुमने इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो इसकी यह दशा कर दी । हाय ! अरे ऐसे समय में भी नहीं सहाय होते ? भला एक बार लड़के का मुँह तो जाग्रो । अरे, अब मैं किसके भरोसे जीऊँगी ?

हरिश्चन्द्र—हाय ! इसकी बातों से तो प्राण मुँह चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है यहाँ से हट चलें ।

(कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय ! वह विपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा । अरे छलिया, मुझे छलकर कहाँ भाग गया ! (देग कर) अरे, आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी है, फिर मैं से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा ? अरे, ऐसा सुन्दर मुँह, बड़ी बड़ी आँख, लम्बी लम्बी छाती, गुलाब सा रंग ! हाय मरने के तुझमें कौन लच्छन* थे जो भगवान ने तुझे मार डाला हाय लाल ! अरे, बड़े बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे

* मर्त्री पात्र के मुग से लच्छण के स्थान पर लच्छन कहलाया गया है

कि तुम्हारा बेटा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत जीवेगा, सो सब भूठ निकला ! हाय ! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया ! हाय ! तुम्हारे बाप का कठिन पुन्य भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे ! हाय !

हरिश्चन्द्र—अरे, इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है। (शव को भली भाँति देखकर) अरे, इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती से ही दिखाई पड़ते हैं। हाय ! न जाने किस नगर को इसने अनाथ किया है। हाय ! रोहिताश्व भी इतना बढ़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय हाय ! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया ! नारायण !

(सोचता है)

शैव्या—भगवान विश्वामित्र ! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए। हाय !

हरिश्चन्द्र—(घबड़ाकर) हाय हाय ! यह क्या ? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ ? अरे, मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहचाना और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी ! हा पुत्र ! हा सूर्यवंश के अंकुर ! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक-मात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम

* श्री पात्र के मुख से पुराण के स्थान पर पुन्य कहलाया गया है

ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़कर कहाँ गये !
 गये ! तुम्हारे कोमल अङ्गों को क्या हो गया ? तुमने क्या खेला
 क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र !
 स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते मैं अपने
 से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता । अथवा अब यह
 अभिमान से क्या, भगवान् इसी अभिमान का फल यह
 सब दे रहा है । हाय पुत्र ! (रोता है)

ग्राह ! मुझसे बढ़कर और कौन मन्दभाग्य होगा ! राज
 गया, धन जन कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारिद्र्य पुनः
 शोक उपस्थित हुआ । भला अब मैं रानी को क्या मुँह
 दिखाऊँ ? निःसन्देह मुझ से अधिक अभाग्य और कौन होगा !
 न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं । जो कुछ
 हमने आज तक किया वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख
 न देखना पड़ता । हमारा धर्म का अभिमान सब भूटा था,
 क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले ।
 निःसन्देह मैं महा अभाग्य और बड़ा पापी हूँ (रंगभूमि की
 श्रद्धा द्रिन्तनी है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ
 गया ? नहीं, वह बड़ा भारी अमंगल हुआ है । इसका फल
 कुछ अच्छा नहीं, वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया
 है जो होगा ? हा ! न जानें किस अपराध से देव इतना रुठा है !
 (रोता है)

हा मृत्युकुल-आलवाल-प्रवाल ! हा हरिश्चन्द्र-हृदयानन्द !

(उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

हरिश्चन्द्र—(आइ नै नै)

तनहिं बैचि दासी कहवाई ।

मरति स्वामि-आयसु दिन पाई ॥

कस न अधर्म सोच जिय माहीं ।

“पराधीन सपनेहु सुख नाही” ॥

शेव्या—(चौकनी होकर) अहा ! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया ? सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ ? हाय दैव ! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ ? (एक धीरे धर के) तो चलूँ, छाती पर यज्ञ धर के अब लोक रीति करें । (रोती और तबहीं चुनकर चिता ज्वाली हुई) हाय ! जिन हाथों से टोक टोक कर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे झकझूंगी ? जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे—(बहुत ही गेनी है)

१ हरिश्चन्द्र—धन्य देवी ! आखिर तो चन्द्र-सूर्य-कुल की लक्ष्मी हो, तुम न धीरे धरोगी तो कौन धरेगा ?

२ (शेव्या चिता ज्वाली हुई पुत्र के पदों तक उठकर दौड़ती है)

३ (रोती है)

४ हरिश्चन्द्र—तो अब चले, उससे प्राधा कपान मांगें । (५)

५ (शेव्या चिता ज्वाली हुई आगे के सेक्के से प्राधा कपान मांगती है)

६ (शेव्या चिता ज्वाली हुई आगे के सेक्के से प्राधा कपान मांगती है)

७ (शेव्या चिता ज्वाली हुई आगे के सेक्के से प्राधा कपान मांगती है)

जमा करना, दुख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती
 अब तो मैं चाण्डाल-कुल का दान हूँ, न अब शैव्या मेरी स
 है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र ! चलूँ, अपने स्वामी के काम
 सावधान हो जाऊँ वा देखूँ अब दुखिनी शैव्या क्या करती है
 (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

शैव्या—(पहली तरह बहुत रोकर) हाय अब मैं क्या करूँ
 अब मैं किस का मुँह देखकर संसार में जीऊँगी ! हाय ! मैं
 आज से निपूती भई ! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी
 छाया न पड़ने देगी । हा ! नित्य सवेरे, उठकर अब मैं किस
 की चिन्ता करूँगी ! खाते समय मेरी गोद में बैठकर और
 मुझसे माँग माँग कर कौन खायगा ? मैं परोसी थाली से
 देखकर कैसे प्राण रक्खूँगी । (रोती है) हाय ! खेलते खेले
 आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा ! और 'माँ-माँ' कहकर
 तनिक तनिक बातों पर कौन हठ करेगा ? हाय ! मैं या
 किसी अपने आँचल से मुह की उल पोछकर गले लगाऊँगी
 या किसी अभिमान से विपत में भी फूली फूली फिरूँगी !

य न रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जी के न
 हाय प्राण ! तुम अब भी क्यों नहीं
 म पसी स्यादयी है कि आत्म-हत्या के नर
 जो अपने ही नही मार डालनी ! नहीं नहीं
 ना उस पट में कामी लगाकर म
 हाय प्राण !

(उन्नता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

हरिश्चन्द्र—(आठ में से)

तनहिँ वैचि दासी कहवाई ।

मरति स्वामि-आयसु विन पाई ॥

कस न अधर्म सोच जिय माहीं ।

“पराधीन सपनेहु सुख नाही” ॥

शैव्या—(चौकन्नी होकर) अहा ! यह किसने इस कठिन मय में धर्म का उपदेश किया ? सच है, मैं अब इस देह की निहँ जो मर सकूँ ? हाय दैव ! तुझसे यह भी न देखा या कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ ? (बुद्ध धीरज धर के) तो लूँ, छाती पर वज्र धर के अब लोक रीति करूँ । (रोती और स्त्री चुनकर चिता बनाती हुई) हाय ! जिन हाथों से ठोक ठोक र रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे झूँगी ? जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने रम दूध भी नहीं पिलाया उसे—(बहुत ही रोती है)

हरिश्चन्द्र—धन्य देवी ! आखिर तो चन्द्र-सूर्य-कुल की ते हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा ?

(शैव्या बिना बनाकर पुत्र के पान आकर उठना चाहती है)

और रोती है)

हरिश्चन्द्र—तो अब चलें, उससे आधा कफन माँगें । (आगे उकर और बन्धुवर्क आनेवालों को रोककर शैव्या ने) महाभागे ! मशान-पति की आशा है कि आधा कफन दिये बिना कोई

बेलाये दुलारे पुत्र की वशा । तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो,
श्व अनाथ की भाँति मस्तान में पड़ा है ।

(रोती है)

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं
है । देखो, सवेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ
जाय और हम लोगों को जान ले और एक लज्जा मात्र बच गई
है वह भी जाय । चलो, कलेजे पर सिल रखकर श्व रोहिताश्व
की क्रिया करो और आधा कम्बल हम को दो ।

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा
हीं था, अपना आँचल फाड़कर उसे लपेट लाई हूँ, उसमें
व भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा । हाय !
अकवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता ।

(बहुत रोती है)

हरिश्चन्द्र—(बलपूर्वक आँसुओं को रोककर बहुत धीरज धरकर)
शैव्या ! रो मत । ऐसे समय में तो धीरज धरना रखना काम
। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा
कफन लिये क्रिया मत करने दो । इससे यदि मैं अपनी स्त्री
पर अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न
तो बड़ा अधर्म हो । जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक
। पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज
रुढ़ के वास्ते मत छोड़ाओ और कफन से जल्दी आधा
रड़ा फाड़ दो । देखो सवेरा हुआ चाहता है, ऐसा न

कि कुल-गुरु भगवान् सूर्य आपने वंश की यह दुर्दशा चित्त में उदास हों।

(हाथ फैलाता है)

शैव्या—(गेती हुई) नाथ ! जो आशा ।

(रोहिताश्वका मृत्-कम्बरा फाटा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छुटने जाम्ना बड़ा शब्द और बिजली का-सा उजाला होता है, नेत्रों में बाजे की और 'वस-धन्य और जय जय' की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं और भगवान् नारायण प्रगट होकर राजा हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ लेते हैं)

भगवान्—वस, महाराज ! वस । धर्म और सत्य की परमावधि हो गई । देखो, तुम्हारे पुण्यभय से चारम्बार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो ।

(नेत्रों से आँसू बहते हैं)

हरिश्चन्द्र—(साष्टांग दण्डवत् करके रोता हुआ गद्गद स्वर) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया ! कहाँ यह भूमि, कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य-शरीर, कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्दधन साक्षात् आप !

(प्रेम के आँसुओं से और गद्गद करण होने से कुछ कहा नहीं जा

भगवान् —(शैव्या से) पुत्री ! अब शोच मत कर । तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति

(रोहिताश्व की ओर देखकर) वन्स रोहिताश्व ! उओ, देखो
 तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो
 रहे हैं ।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य ने भगवान्
 को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है;
 आकाश से फिर पुष्प-वृष्टि होती है)



मेले का ऊँट

[कलसुन्दर गुप्त]

भारतमित्र-सम्पादक ! जीते रहो—दूध बतारो पीते रहें
भाँग भेजी तो अच्छी थी। फिर बैसी ही भेजना। गन लम्बा
अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहन-मेले'
लेख पर निगाह पड़ी। पढ़ कर आपकी दृष्टि पर अस्मिता
हुआ। पहली बार आपकी बुद्धि पर अफ़सोस हुआ
भाई ! आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होना चाहिए, क्योंकि
आप सम्पादक हैं। किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होने
भी उस भूखे गिद्ध की-सी निकली, ऊँचे आकार में चढ़ने
भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा पर उसके नीचे
जाल बिछ रहा था वह उसे न नृभा। यहाँ तक कि उस
के दाँतों को चुगने में पहले जाल में फँस गया।

मोहन-मेले में आपका ध्यान दो एक पैसों का
पूरा की तरफ़ गया। न जाने आप घर में कुछ खाकर

थे या यों ही। शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे
 हों तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते
 थे। यह क्या देखने की बात थी? तुमने व्यर्थ बातें बहुत
 देखीं, काम की एक भी तो देखते? दाईं ओर जाकर तुम
 ग्यारह सौ सतरों का एक पोस्टकार्ड देख आये, पर बाईं
 तरफ बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया! बहुत लोग
 उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे। कुछ लोग कहते थे
 कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते इसी से मोहन-मेले वालों ने
 उस विचित्र जानवर का दर्शन कराया है। बहुत सी शौकीन
 गीवियाँ, कितने ही फूल-बावू ऊँट का दर्शन करके खिलते
 दाँत निकालते चले गये। तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये
 और भुक-भुक कर उस काठ के घेरे में बैठे हुए ऊँट की
 तरफ देखने लगे। एक ने कहा—“ऊँटड़ो है।” दूसरा बोला—
 “ऊँटड़ो कठेते आयो?” ऊँट ने भी यह देख दोनों ओठों को
 तड़काते हुए धूँनी फटकारी। भड़ की तरङ्ग में मैंने सोचा
 के ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबूओं से कुछ कहता है। जी
 ने सोचा कि चलो देखें वह क्या कहता है। क्या उसकी
 भाषा मेरी समझ में न आवेगी? मारवाड़ियों की भाषा
 समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ में न
 आवेगी? इतने में तरङ्ग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली
 साफ-साफ समझ में आने लगी। ऊँट ने उन
 बाबूओं की ओर धूँनी करके कहा—

कहा—बस, बलबलाना बन्द करो। यह बाबला शहर न
 जो तुम्हें परमेश्वर समझे। तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हें
 कोई कल मीथी नहीं है। जो पेड़ों की छाल और पत्तों
 शरीर ढाँके थे, उनके बनाये कपड़ों से सारा संसार
 बना फिरता है। जिनके पिता सर पर गठरी ढोते थे वं
 पहले दर्जे के अमीर हैं। जिनके पिता स्टेशन से गठरी
 ढोकर लाने थे, उनको सिर पर पगड़ी सँभाल
 भारी है। जिनके पिता का कोई पूरा नाम न ले
 पुकारता था, वह बड़ी-बड़ी उपाधि धारे हुए है। संसार
 जब यही रङ्ग है तो ऊँट पर चढ़ने वाले सदा ऊँट ही
 चढ़ें, यह कुछ बात नहीं। किसी की पुरानी बात यों
 कर कहने से आज कल के कानून से हतक-इज्जत हो जा
 है। तुम्हें खबर नहीं कि अब मारवाड़ियों ने 'एसोसिएशन'
 बना ली है। अधिक बलबलाने वाले तो वह रिज़ील्यूशन प
 करके तुम्हें मारवाड़ से निकलवा देंगे। अतः उनका
 गुण-गान करो जिससे वे तुम्हारे पुराने हक को समझे
 जिस प्रकार लार्ड कर्जन ने किसी जमाने के जलक हा
 का पतल पर लाट बनवाकर और उसे स्वगमरमर से मढ
 कर, नगर बना दिया है उसी प्रकार मारवाड़ी तुम
 जिस नाम की शर्त जरी की गइयों हीर पन्न की न
 'मारवाड़' का नाम दिया गया है तुम्हें बड़ा सम्मान
 दिया है। मारवाड़ी का सम्मान करो।

धोखा

[प्रतापनारायण मिश्र]

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो, तो भी महाकठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राजस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएँ ? वरञ्च ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार ही रहने की दशा में इतने पृथक् रहता है। तो भी एक रीति से नहीं रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है। उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया छल भ्रम इत्यादि धोखे के ही पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अग्रह न होगा। यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है जिन दूसरे

शत्रुओं में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाना है :
धोखे की दृष्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिस
विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग।
वरञ्च धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं। अवतार-धारण
दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है
धोखे का पुतला और सच भी यही है, जो सर्वथा निरा
होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है और
निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया क
है वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है? हम आदर के
उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई नि
पूर्वक 'इदमित्थं' कह ही नहीं सकता; जिसका सारा
स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्र
रहित क्योंकि कहा जा सकता है? शुद्ध शुद्ध निर्भ्रम व
कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो स
पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह
आस्तिकों को निश्चय ज्ञान का अभाव रहता है, फिर
निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके ब
समय में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

बदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। य
न कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली-भाँति सम
दिया था कि विश्व में जो कुछ है और जो कुछ होता है,

का विचार मात्र - परन्तु हम वही विचार का मात्र समझते
होते हैं जो कि हमारे सामने ही आता है।

हमारी सामान्य भावना ही नहीं है कि हम
मित्र म मित्र न मानें - या एक मित्र के गोले का मित्र
पर ही किन्तु आप हम वही भावना ही और गुलाबक का
भरते हैं तथा हमारी भावना ही विचार की कारीगरी देखते
कर सुख प्राप्त करते हैं। विचार ही देखिये, तो धन
इत्यादि पर किसी का हाथ स्थित नहीं है। इस कारण वे हम
काम आ रहे हैं तब ही हम के उपरान्त न जाने किस के
में वा किस दशा में पड़े हमारे पद में केने हो जायेंगे
मान भी ले कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें का
आखिर एक दिन मरना है, और 'मूर्ति गई आखिरी तब ही
केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सब
सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूजा गवाकर निरे मूर्ख कहेंगे
स्त्री-पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने
पाप मुड़ियावे ! ना हम कहेंगे 'कोऊ ना हमारे' का उदाहरण
वनके सब प्रकार के सुख-सुविधा सुयश में वाञ्छित
जावे ! इतना ही नहीं बरन् और भी सोचकर देखिये
किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के बाद जी
की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसका
जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक समय

रुस्त हैं और ठीक-ठीक लगे हुये हैं तभी तक उसमे खट-खट, नटन, आवाज़ आ रही हैं। जहाँ उसके पुरजों का लगाव वेगड़ा, वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे शरीर का तब तभी तक ठीक-ठीक बना हुआ है जब तक मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता है; जहा इस क्रम में व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया। वस फिर कुछ नहीं कैसा जीव! कैसी आत्मा! एक नीति से यह कहना भूठ भी नहीं जान पड़ता क्योंकि जिसके प्रस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उसके विषय में प्रन्ततोगत्वा यों ही कहा जा संकता है! इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख-दुःख निर्विशेषे स्वल्प' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है पर नरक और वैकुण्ठ का पता नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दे तो बुरे दामो से घृणा और सन्धर्मों से रूचि न रखकर भी तो अपना अथवा पराया अन्निष्ट ही करेंगे। ऐसी ऐसी बाने सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का गो गोचर जट तगि मन जाई सो सर माया जानहु माई और श्री मृगदास जी का माया मोहनी मन हरन प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे का

भली अथवा बुरी नहीं होती; केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को जब कुछ उठा दीजिये, तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा ज़ोरी करके धर्म, खोइयेगा वा भूखों मरके आत्म-हत्या के ग़ाप-भागी होइयेगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइये वा आप ही उसका दुमन कर दीजिये, तो अनेक लोगों के हित का पुण्य लाभ होगा।

धी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिये तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया-सींगिया आदि मृत्यु विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिये, तो बहुत-से रोग-दोख दूर हो जायेंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से भूपकी-मुँदनी जोड़कर उसी की जूती उसी का सिर कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरञ्च 'गुरु गुड़ हो रहा, चेला शकर हो गया' का जीवन उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तोंभी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इन गीतों से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई माँप न सके, और तुम्हारा बलि-

पशु यदि किसी कारण से बुझाए हथ-कणों ताड़ भी उन
 तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर
 अपनी चतुरता के मनुष्य कल को मूर्खों के आंग तथा
 यंत्रों के चयनवाद की रण के जल से भी और स्नायु
 स्वा ' इन दोनों रीतियों से योग्य युग नहीं है। अगले में
 कहेंगे कि आदमी कुछ खाक सीगता है, अर्थात् धो
 खाये बिना अछिल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीं
 कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईम
 कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व-
 यदि निरं खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गये होंगे
 पर अपनी ओर से इतना और समझ देना भी हम जिन
 समझते हैं कि धोखा खाके धोखेवाज का पहिचानना साधारण
 समझवालो का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोज
 वेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़कर आपसे भी छुड़वा
 चाहते हो, उनको समझे रहिये कि स्वयं धोखा खाये हुए
 और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसी से सब
 परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एत पदार्थ अपने न हो
 देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हो पर विश्वास क
 नहीं है, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। वस, इ

धोखा

रखियेगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से
 रहेगा; नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने
 आँसुओं से धो और खा: क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्म-वाक्य
 ही मानता वह धोखा खाता है।

आत्मनिर्भरता

[बालकृष्ण भट्ट]

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सब के ऊपर ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने है कि तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहु-बल के सब क्षीण बल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यह बाहु-बल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला उभारनेवाला है।

समाज के बंधन में भी देखिये, तो बहुत तरह संशोधन सरकारी कानूनों के द्वारा कैसे नहीं हो जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग संशोधन अपने आप करने में हो सकते हैं।

कड़े-से-कड़े नियम आलसी समाज को अपव्ययी को परिमित व्यय-शील, शराबी को कोधी को शांत या सहन-शील, सूम को उदार, लोनी संतोषी, मूर्ख को चिद्धान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पलीना इत्यादि नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

सच पूछो, तो जाति भी सुधरे हुए ऐसे ही एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के मनुष्य आवाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब पाप जाय। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य है, वही जाति शिन्नित कहलाती है। जातीय उन्नति भी अलग-अलग एक आदमी के परिश्रम, योग्यता-मुचाल और सौजन्य का

तुझे ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी
का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता

सम्भ्यता, जो आज-कल हमारे लिये प्रत्येक
में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन
ने के काम का परिणाम नहीं है। जब कई
कादेश ऊँचे काम, ऊँचे विचार और ऊँची
की ओर प्रयत्नचित्त रहा, तब वे इस अवस्था
। वहाँ के हर एक संप्रदाय, जाति या वर्ण के
साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी उन्नति
नीचे-से-नीचे दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली,
आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे वाले—कवि,
राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर जातीय उन्नति को
तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर
ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर
रहकर एक दर्जा बढ़ाया, इसी तरह क्रम-क्रम
पीढ़ी के उपरान्त वृत्त जिसका केवल ढाँचा-मात्र
तक पहुँच गई।

दुनिया-भर में धूम
ढाँचा छोड़नेवाले
उत्त शिल्प-

समझा जाता है, ऐसे महानहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुटप-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीढ़ों की विशेषतावाले सौ पुत्र भी किस काम के !

—

समझा जाता है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की विशेषतावाले सौ पुत्र भी किस काम के !

2

3

4

5

और गृही भी तो अब स्मृति पर भ्राति का जलद पटल छा जाने के हेतु सब काल ने विस्मरणा कर दिया। नदी नारे सूख गये। जंजूर-सी मन्मथ धार बड़े बड़े नदों की हो गई। मही जो एक समय तृणो से सकुल थी विलकुल उस्से रहित हो गई। सावन के मेघ भयानक गरम कालीन जलदों की भौंति हो गये। प्यासी धरती को देख पयोदों को तनिक दया न आई, पपीहा के पी-पी गटने पर भी पयोद न पसीजा और न उसके चंचु-पुट में एक बुन्द निचोया। इस धरती के भूखे लोग जुधा से जुधित होकर व्याकुल घूमने लगे। गैयों की कौन दशा कहे ये तो पशु हैं। खेत सूखे-साखे रोड़ोंमय दिखाने लगे। शालि के अंकुर तक न हुए। किमानों ने घर की पूँजी भी गवाँ दी। बीज बोकर उसका एक अंश भी न पाया। “यह कलियुग नहीं, करजुग है, इस हाथ ले उस हाथ दे”—इस कहावत को भी भूटी कर दिया अर्थात् कृषी लोगों ने कितना ही पृथ्वी को बीज दिया पर उसने कुछ भी न दिया। छोटे-छोटे बालकों को उनकी माता थोड़े-थोड़े धान्य के पल्ले बेचने लगी। माता-पुत्र और पिता-पुत्र का प्रेम जाता रहा। बड़े बड़े अनाथ्य लोगों की स्त्रियाँ, जिनके पवित्र घूँघट कभी बेमर्यादा किसी के सम्मुख नहीं उधरे और जिन्हें आर्यावर्त की मुचाल न अभी तक घर के भीतर रक्खा था, अपने पुत्रों के साथ बाहर निकल पथिकों के नामने गो-गो आँचर पसार पसार एक मुट्ठी दान के लिये कर्मणा करने लगीं। जब संसार

की ऐसी गति थी तो हमारे पूर्व पुरुषों की कौन गति रही होगी ईश्वर जानै। मैं न जाने किस योनि में तब तक थी। जब वे लोग राज-दुर्ग में आये किसी भाँति अपना निर्वाह करने लगे। ब्राह्मण की सीधी-साधी वृत्ति से जीविका चलती थी। किसी को विवाह का मुहूर्त्त धरा—कहीं सत्यनारायण कहा—कहीं रुद्राभिषेक कराया—कहीं पिंडदान दिलाया और कहीं पोथी-पुरान कहा। द्वादशी का सीधा लेते लेते दिन बीते इसी प्रकार जीविका कुछ दिन चली। मेरे पितामह वंश वे हंस थे। उनका नाम अवधेश था। उनके दो विवाह हुए। उनकी दोनों पत्नी, अर्थात् मेरी पितामही, बड़ी कुलीना थीं। एक का नाम कौशल्या और दूसरी का अहल्या था। अवधेशजी को कौशल्या से एक पुत्र हुआ। उसका सब शिष्टों ने मिल कर इष्ट साध वलिष्ट सा वलिष्ट नाम धरा। ये मेरे पूज्यपाद परमोदार परम सौजन्य सागर सब गुणों के आगर जनक थे। कुछ काल बीतने पर कौशल्या सुरपुर सिधारीं। उस समय मेरे पिता कुछ बहुत बड़े नहीं थे। शोकसागर में डूबे। पर दैव से किस का बल चल सकता है? थोड़े ही दिनों के उपरान्त भगवान् चक्रधर की दया से अहल्या को एक बालक और बालिका हुई। बालक का नाम नारद और बाला का गोमती पड़ा। यह वही गोमती मेरे पीढ़े बैठी है। इस अभागिन के कुंडली में ऐसे बाल वैधव्य जोग पड़ें थे। यह विचारी अपना सोहाग खो बैठी। इसकी कथा

तक कहूँगी। अभागिनियों की भी कहानी कमी, सुहावनी हुई है? मेरे पिता जब युवा हुए, अवधेशजी ने राव-चाव से उनका विवाह-शारंगपाणि की बेटी मुरला से कराया। शारंगपाणि का कुल इस देश के ब्राह्मणों में विदित है। 'यस्य नाम तथा गुणाः' अतएव उनका कुछ बहुत विवरण नहीं किया। कुछ काल बीते मेरी माता गर्भवती हुई। इस समय मेरे पितामह काल कर चुके थे। अपने नाती पन्ती का सुख देख सके। अहल्या भी अनेक तीर्थों का सलिलबुन्द पाव करते, अपने तन को अनित्य जान, तीर्याटन में लग गई थी। इसलिये इस समय घर में न थी। नौ मास के उपरान्त दस मास में मेरे पिता के एक कन्या हुई। इसे लोग साक्षरमा का रूप कहते थे। यह जेठी कन्या थी। उसके अनन्तर एक कन्या और हुई, उसका नाम सत्यवती पड़ा। फिर बरों में भगवान् ने एक सुत का चन्द्रमुख दिखाया, सभवन में उजेला छा गया। गाजे-बाजे बजने लगे। जो कुल पड़ा दान पुन्य भिखारी और जाचकों को दिया। पुत्रा नरक के तारने वाले बालक ने मेरी माता की कोंख उजागर की। पर हाथ "मेटन हितु सामर्थ्य को लिखे भाल के अंक"—विधाता से यह न महा गया। सुख के पीछे दुःख दिखाया—अर्थान् कुटिल काल ने इसे कवल कर लिया।

"धिक धिक काल कुटिल जड़ करनी।

तुग्र अनीति जग जान न बरनी।"

माता विचारी डाह मार मार कर रोने लगी । घर में छोटे बड़े और टोला परोसियों के उत्साह भंग हो गये । जितने लोग पहले सुखी हुए थे उस्से अधिक दुःखी हुए । आँसुओं से सब घर भर गया । पिता हमारे बानी थे; आप भी ढाढ़स कर सबों को जेठे की भाँति प्रबोध किया और बालक का मृतक कर्म करने लगे । काल ऐसा है कि दुस्तर दुःख के घावों को भी पुरा देता है । जो आज था सो कल न रहा, कल था परसों न रहा । इस भाँति फिर सब भूल गये । पर पुत्र-शोक अति कठिन होता है । पिता के सदैव इसका काँटा छाती में समा गया । कभी सुखी न रहे । इस दारुण विपत्ति को स्मरण कर फिर भी सजल नैनों से हमारी माता की दशा देख विलाप करने लगते । फिर गिरस्ती में लोग लगे । कुछ काल के अनंतर उन्हें एक जन्मा और हुई । इसका नाम पत्रिका के अनुसार सुमीला पड़ा, सो हे भद्र ! देखो यही सत्यवती और सुमीला मेरी दोनों भगिनी सहोदरी हैं और मुक्त अभागिन का नाम श्यामा है ।

इतना फा चुप हो रही । इस नाम के सुनते ही मेरा परेजा कंप उठा और संरा जाती रही । हाय हाय बहता भूमि में गिर पड़ा और स्वन तरंग में डूब गया ।

स्वर्ग-सभा में नारद जी

[पं० आनन्दनन्दन]

ब्रह्माजी का संकेत पा श्रीनारदजी : १२ और एक बार भी फैला गर की ओर ताके। गर महागद् लोग भी उनकी रेशम सी छटकी पीली जड़ा, नाभि तक फैली धूल चूने की कपास सी दाढ़ी, मुखी पेसा और दुर्लभ श्रम, महामनों के पास तक लटकता हुआ चमचमाता श्यामी वस्त्र, "हरे राम हरे कृष्ण" इन पवित्र भगवत्नामों से अंकित इतरींग, ललाटे बाहु, कंठ और हृदय पर लगे शम चकादि चिह्न गदि ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, वक्षःस्थल तक लटकती तुलसी औ कमलज मालाओं की लड़ी और मुग औ ताल की कागड़ पेसी वीर देखते, महाभागवत श्रीनारदजी को देस भगवन्स्मरण के आनन्द में दूबे एक टक देखते ही रह गये।

तब नारदजी ने सब की एकाग्रता से प्रसन्न हो वीणा में और दृष्टि फेरी और उसे यथोचित रीत से धारण कर बां

३१३

हाथ की तर्जनी मध्यमा से उसके प्रधान तार को मंदस्वर के पड़ज पर दबा दहिने हाथ की तर्जनी से भक्तकार कर वजाया, और दहिने बाये हाथ की और अंगुलियों से और भी अनेक ऊँचे नीचे स्वरों में मिले तार भक्तकारे, वह करोड़ों प्रणवों का-सा मधुर नाद हुआ कि मानो उसने सभा पर वशीकरण मंत्र मार दिया। इतने में उसी स्वर को फिर धीरे धीरे भक्तकारते उसमें मिल नारदजी ने “हरे कृष्ण नारायण” इस मधुर शब्द का उच्चारण किया। कहाँ तो यह अमृत के रस को भी तुच्छ करता हुआ स्वयं मधुरतम भगवन्नाम कि चंडाल के मुख से निकले तो भी आनंदकंद ही का अनुभव कराये और तिस पर भागवतों के शिरोधार्य श्रीनारदजी के मुख से निकला, तिस पर भी ऐसे समय कि जब वीणा-वादन सुन पहिले ही से सब एकाग्र हो रहे हैं! वस, क्या जाने क्या हुआ कि ज्यों इस नाम की ध्वनि धीरे धीरे तरंगित होती गगन-तल में फैली कि सब का शरीर अचानक रोमांचित हो गया और कुछ कुछ स्वेद और कंप और परवशता सब के अङ्गों में समा गई और ज्यों-ज्यों सिंहासन पर लटकें चित्र कैसे लिखे हो गये, तब श्रीनारदजी ने थोड़ी देर तक हरि नाम ही जा भगवन्नाम किया और गंग संग वीणा-वादन किया। फिर सब के नमोऽर्पण-संकीर्तन जाने पर नारदजी भी बड़े कष्ट से उस हरिनाम गान से

विशेष कर रही वसुधैकुटुम्भक : जो सब में सब में
होने लगे।

‘सुभाषण !’ जहाँ लोगों ने तब कल सोचने लगा था
है। पर मैं समझती हूँ वृद्धता ही का कारण है, इस कारण
समझता हूँ कि मैं मानवजाति की अवस्था विद्वान्
सब से जानता हूँ। उन लोगों की वसुधैकुटुम्भक
कहना है, मुनिगै—अर्थात् वही आत्मा, जो पृथ्वी
में आसक्त कीर्ति है। अतः तो महापुरुष की
समय था कि मानव धर्मस्य महापुरुषात्पुनः
पुनः महापुरुष तिम समय धर्मस्य जगत् में श्री
श्री बलभद्र के ध्वज वज्राक्षय विले चरणचिह्नों से पूरे
शोभित थी, उस समय महापुरुष पृथिवी न राजपूरा
किया और अर्द्ध अर्द्ध पतिष्ठित विद्वान् आत्माओं को जितना
किया, परन्तु उन लोगों ने साफ न्याय दिया कि
राजधान्य ग्रहण नहीं करे, क्योंकि मानव नरक प्रवेश
जता कोई मार्ग जानता है, कोई उत्पत्ति जानता है, कोई
जानता है, उस राज्य का धर्म हम नहीं जानते। उस समय
के आश्रय से पतिल दुःखनादि सहस्रो पाप कर नुहो।
और फिर पृथिवी न अटारक्य अतीतिगियों का राज्य
वहा ही उस हत्यारी सपत्ति का अर्थ हम नहीं जानते।
साफ फटकार मुन पृथिवी श्रीगुरुदेव के समक्ष
प्रणाम कर आँखों में आँसू भर बैठ और लगाने

जनेऊ तोड़ सर्वभक्षी होते जाते हैं। कोई दरिद्रता पर बोझा दे शास्त्र से रहित रहते हैं, कोई धन-मद में मत्त हो वेश्याओं की डेगची चाटते हैं, कोई अङ्गरेज़ी के अभिमान से सदाचार को त्याग चुस्ट से मुँह भौंसाया करते हैं, और हमें यह कहते बड़ी लज्जा होती है कि हम तुम सब को उड़ा अपने बाप-दादा और (बनिष्ठादि की ओर देख कर) इन गोत्र-प्रवर्त्तक महर्षियों को भी सैकड़ों गाली रोज़ देते हैं !!

(महर्षि लोग अवोमुख हो गये और सब के मुख पर शोक छा गया)

अब क्षत्रियों का तो कुछ पूछना ही नहीं। जिन क्षत्रियों से एक दिन हम लोग सहायता माँगते थे और जो क्षत्रिय लोग अपने बाहु-बल से सुर-राज का भय छुड़ते थे उन्हीं क्षत्रियों की आज-कल यह दशा हो गई है कि दो-चार पुरुष बाँह थामें तब दस पैड़ चल सकें ! वीरों के बदले वेश्या और शस्त्र के बदले सारंगी उनके साथ रहती है ! पहले तो ईश्वर ने उनको स्वतंत्र राज्य ही नहीं दिया और जो कुछ है उसका भी उनसे प्रबन्ध नहीं बनता। रनवास से लेकर अपने बाप के श्राद्ध तक का काम शूद्रों के हाथ सौंप दिया और आप डलन्त करने रहते हैं। कितने ही बाल भाड़ते मिस्सी लगाने, भाँहें मटकाते, खाने नचनिये बने कितने ही यदि कुछ अङ्गरेज़ी-टंगरेज़ी पढ़े भी हैं तो बस स्त्री को नंग ले कभी दार्जलिङ्ग, कभी शिमला 'यह बात तो अङ्गरेज़ों की भली मानि सीख ली कि थोड़ी सी गरूर' तो हिमालय पर चढ़ाई करना। पर यह न

3 7

4

5



भी नेचों पर अमृत का सु चना । जोर न ले मन्त्र त्यों
 के पत्रों के कारण एकदम की मरने लगे । वही, जहाँ
 भी हस्तिनाम करने आनन्द में मरने लगे । वही सिन्धु
 पर बापी में बीजा लगा बीजे । वही मने प्रीत मन्त्र की मना
 आनन्द की निद्रा में आनन्द के बिने निद्रा मने मने ।

[श्री १५ पत्र]



फ्रा-हियान की यात्रा

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

प्राचीन भारत के इतिहास का ज्ञान बढ़ाने
लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के
लगता है। ग्रीकवाले इस देश में कई
राजदूत बनकर आते थे। इसी में अनेक
भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति
का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय
करने की विशेष परवा नहीं की।
और ही उद्देश था, वे विद्वान् थे।
यात्रा इसलिए की थी कि वे
दर्शन करें, बौद्ध-धर्म की पुस्तकें
को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखीं
उनको नाना प्रकार के शरीरों
लूटे गये, कभी वे रास्ता भूल

... का सम्मान ...
 ... विद्या ...
 ... नीली यात्रियों ...
 ... विद्या, इसका ...
 ... यानी यानी ...
 ... यगंजी फ्रैं ...
 ... इसमें भारती ...
 ... प्रसिद्ध चीनी ...
 ... गाय। इसी ...
 ... का-हियान ...
 ... यपने देश से ...
 ... इसका मत ...
 ... का संग्रह ...
 ... को दो रास्ते ...
 ... होता गुआ ...
 ... चक्र की ...
 ... होता ...
 ... म ...
 ... म ...
 ... म ...
 ... म ...

और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके खर्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियाँ गुज़र जाती हैं, वे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका खर्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और विछौना मुफ्त मिलता है।

मथुरा से फ्रा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय, गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ सद्धाराम थे। कोशल राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जैतवन, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बहुत निर्मल था। कई वाग भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार में रहनेवाले साधुओं ने फ्रा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बहुत बढ़ाई की कि उसने यात्रा धर्म-प्रेम के वर्शीभूत होकर की थी। भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान कपिल-वस्तु की दशा फ्रा-हियान के समय में बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े-थोड़े साधु और दस-बीस अन्य जन वहाँ थे। कुशीनगर भी, जहाँ भगवान् बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैशाली नगर को, जहाँ बौद्धधर्म की पुस्तक संग्रह करने के लिए

नदी पार करके वह मथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है—मथुरा में यमुना के दोनों किनारे पर बीस संग्राराम हैं, जिनमें लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार है। राजपूताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल-वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। कंठ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है। प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ आ-जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हलका दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीव-हत्या नहीं होती। चण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लहसुन और प्याज़ ही खाता है। इस देश में कोई न तो मुर्गी ही पालता है और न बतख ही। पालतू पशु भी कोई नहीं बेचता। बाज़ारों में पशु-वध शालाएँ अथवा मांस बेचने की दुकानें नहीं हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चण्डाल ही पशु वध करते और मांस बेचते हैं। बुद्ध भगवान् के समय से यहाँ की यह प्रथा है कि राजा, महाराजा, अमीर, उमरा-

और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके खर्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियों गुज़र जाती हैं, वे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका खर्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और विछौना मुफ्त मिलता है।

मथुरा से फ़ा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय, गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ सद्धाराम थे। कोशल राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जैतवन, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बहुत निर्मल था। कई बाग़ भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार में रहनेवाले साधुओं ने फ़ा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बहुत बड़ाई की कि उसने यात्रा धर्म-प्रेम के वशीभूत होकर की थी। भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान कपिल-वस्तु की दशा फ़ा-हियान के समय में बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े-थोड़े साधु और दस-बीस अन्य जन वहाँ थे। कुशीनगर भी, जहाँ भगवान् बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैशाली नगर को, जहाँ बौद्धधर्म की पुस्तक संग्रह करने के



उनके मोह में पड़ने
 और मूर्तियाँ समुद्र
 तपस्या के बाद एक
 मृत हुई। सैकड़ों
 द्वीप में पहुँचा।
 ए-धर्म, दोनों का

रहा। तत्पश्चात् वह
 चलने के एक महीने
 बिगड़ा। यह देखकर
 शर्मण प्रा-हियान के
 गई है। अतएव कोई
 में जहाज़ की यात्रा
 रे चाहे वचे। इस
 सज्जन था। वह
 मल्लाहों की इस
 कारण
 से वच
 मुद्र-तट
 माना।

बुद्ध वृत्त के भी उम्मेद व्यक्त किये । लङ्का में उसने बुद्ध और भी धर्म-पुस्तकों का संग्रह किया । लङ्का का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

“लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे । धीरे-धीरे व्यापारी लोग यहाँ आने लगे । अन्त में वही यहाँ बस गये । इस प्रकार यहाँ की आबादी बड़ी और राज्य की नींव पड़ी । यहाँ भगवान् बुद्ध आये । उन्होंने यहाँ के निवासियों को बौद्ध बनाया । लङ्का का जल-वायु अच्छा है । सज्जी बहुत होती है । राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है । समीप ही एक सद्धाराम भी है जिसमें ५००० साधु रहते हैं ।”

फा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा । उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाने का विचार किया । उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बतलाया हुआ एक पहाड़ भेट किया । अपने देश की बनी हुई वस्तु देखकर फा-हियान का जी भर आया । उसके नेत्रों से अश्रु-धारा वह निकली । अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया । एक जहाज दो सौ यात्रियों सहित उस ओर जाता था । वह भी उसी पर बैठ गया । जहाज को हलका करने के लिए खलासी जहाज पर तलई हुई चीजों को समुद्र में फेंकने लगे । बहुत माल असमान फेंक दिया गया । फा-हियान ने अपने सारे वर्तन तक समुद्र

में इस डर के मारे फेंक दिये कि कहीं उनके मोह में पड़ने के कारण लोग उसकी अमूल्य पुस्तकें और मूर्तियाँ समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद एक छोटा-सा टापू मिला, जहाँ जहाज़ की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ६० दिन बाद जहाज़ जावा द्वीप में पहुँचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म, दोनों का प्रचार था।

फ्रा-हियान जावा में पाँच महीने रहा। तत्पश्चात् वह एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने बाद इस जहाज़ का भी कील-काँटा बिगड़ा। यह देखकर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज़ पर शर्मण फ्रा-हियान के होने ही के कारण हम पर विपत्ति आई है। अतएव कोई टापू मिले तो इसे यहाँ उतार दे, जिसमें जहाज़ की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहाँ चाहे मरे चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फ्रा-हियान से प्रेम करने लगा था। उसने मल्लाहों की इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। इन्हीं के कारण बेंचारा फ्रा-हियान किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने से बच गया। २२ दिन की यात्रा के बाद दक्षिणी चीन के समुद्र-तट पर वह सुकुशल उतर गया और अपने को कुत-कृत्य माना।

रानी दुर्गावती

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

जिस समय अकबर बादशाह की यशःपताका हिमालय से लेकर बङ्गाले की खाड़ी तक फहरा रही थी उसी समय जबलपुर के पास गढ़मण्डल या गढ़मण्डला में एक छोटी-सी माण्डलिक रानी के स्वातन्त्र्य की अग्निकण्ठा दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैला रही थी । बड़े-बड़े प्रतापी राजा जिन्हें के बल-विक्रम को नहीं सह सके उसी बल-विक्रम से अवहेलना गढ़मण्डल की अधीश्वरी ने निडर होकर की जब यह विचार करते हैं कि गढ़मण्डल के सिंहासन पर एक कोमलाङ्गिनी कामिनी विराजमान थी तब हमारे आश्चर्य की सीमा और भी अधिक हो जाती है ।

कन्नौज के राजा चन्दनगय के एक कन्या थी । उसका नाम था दुर्गावती । जब वह यौवनवती हुई तब उसके पिता ने राजपुत्राना के किसी राज-कुमार की गृह-लक्ष्मी बन

उसके छोटे से राज्य पर आग्य पड़ेगी। इसलिए वह सम्राट्त्व में सेना मलिन उतारने की तैयारी नगार करती जानती थी। साथ ही साथ प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए उसके मङ्गल-विधान की ओर भी वह अपनी दृष्टि रखती थी। स्थान-स्थान पर उसने कुएँ और तालाब खुदवाये और अनाथों को आश्रय देने के लिए अनेक उपाय किये। और वाणिज्य की ओर भी उसने ध्यान दिया। सातों यह कि अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए उसने कौन उपाय बाकी न रक्खा।

दुर्गावती की योग्यता, देश-रक्षा के लिए उसकी तपस् तथा उसकी प्रजा-वत्सलता आदि के विषय में अकबर और अधिकारियों ने उसे अनेक बातें सुनाई और गढ़मण्डल के अपने अधीन कर लेने के लिए बहुत बार प्रार्थना की कि उदार-हृदय अकबर ने वैसा करना उचित न समझा। तब कोमल रस्ती की रगड़ लगने से कठोर पत्थर भी घिस जा है; अनेक बार परामर्श दिये जाने पर अकबर की भी लो लीप्सा जाग उठी। आसफखॉ नामक एक सरदार गढ़मण्डल पर चढ़ाई करने के लिए उसने आज्ञा दे दी। एक विधवा और अनाथ अल्ला का राज्य छीन लेने के लिए दिल्ली के दुर्दमनीय बादशाह का चढ़ाई करना क्या कोई की कारिणी बात है? लोभ मनुष्यों का परम शत्रु है। एक सामा मनुष्य से लेकर सम्राट तक को भी वह नहीं छोड़ता

कर्मों से नष्ट होकर नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 समस्त कर्म करने के बाद नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 साथ ही नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 पश्चात् इस समय का नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 नाक्यों से नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 को निर्देशित करके नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 तेज न सत कर दिया। गनी ने जाना कि
 कठिनार्थ से आपन प्राण नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि
 को साथ लेकर गनी नष्ट हो गया। गनी ने जाना कि

आसफखा के भाग गनी का समाचार यथासमय
 अकबर को मिला। सुन कर वह अकबर लज्जित हुआ और
 डेढ़ वर्ष के अनन्तर विपुल सैन्य के साथ आसफखा को फिर
 उसने गढमगडल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस
 बार भी गनी दुर्गावती की सेना ने पृथ्वी ही प्रचण्ड बल
 विक्रम से सग्राम किया। फिर भी दुर्गावती के तजोवर्हि में
 शत्रु की सेना पतन के समान नष्ट हो गई। जो कुछ बची
 वह आसफखा के साथ भाग निकला। आसफखा को इस
 दूसरी हार से अत्यधिक लज्जा हुई। उसने अकबर को मुँह
 दिखलाना उचित न समझा। उसी ने लोभ दिला कर
 गढमगडल पर आक्रमण करने के लिए अकबर को उकसाया
 था, अतएव उसे अब यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार वह
 अपनी इस कलङ्क-कालिमा को प्रक्षालन करे। वह यह जानता

आप अपने पुत्र से मिल लीजिए। रानी ने उत्तर दिया—
 “यह समय पुत्र से मिलने का नहीं; यदि मैं रण-भूमि छोड़ूँगी
 तो यहाँ मुझे न देखकर सेना अस्त-व्यस्त हो जायगी। यदि
 पुत्र का अन्त-काल उपस्थित ही है तो मुझे हर्ष है कि उस
 ने वीर-धर्म का पालन किया, वीर के समान उसने गति
 पाई। वह और मैं, दोनों शीघ्र ही पर-लोक में फिर मिलेंगे।
 यह समय मिलने का नहीं।” धन्य रानी की वीरता और
 धन्य उसकी धर्म-निष्ठा ! अन्त में युद्ध करते करते रानी
 की आँख में एक तीक्ष्ण वाण प्रवेश कर गया। उस वाण को
 रानी ने बाहर निकालना चाहा, परन्तु वह सफल-मनोरथ
 न हुई। तब उसने जीवन से निराश होकर बड़ी क्रूरता से
 विपक्षियों का संहार आरम्भ किया। जब रानी ने देखा कि
 अब वैरियों के द्वारा पकड़े जाने का भय है तब गढ़मण्डल
 की ओर एक बार देख कर अपने ही खड्ग से अपने सिर
 को उसने धड़ से अलग कर दिया। रानी का मृतक शरीर
 शत्रुओं के हाथ न लगे, इसलिए सेना ने उसे शीघ्र ही
 दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ दुर्गावती और
 वीरनारायण की साथ ही अन्तिम क्रिया हुई।

इधर गढ़मण्डल ने आसफखॉ के अधीन होकर अकबर
 के राज्य की सीमा बढ़ाई।

यह भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ पुरुषों की तो

भगवान् श्रीकृष्ण

[पंच पञ्चमिद शर्मा]

पाँच हजार वर्ष यंत्रित भगवान् श्रीकृष्णनन्द आनन्द-नन्द
इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व
प्रति वर्ष हमें इस चिर-स्मरणीय घटना की याद दिलाना है।
आर्य-जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस परम पावन पर्व को
मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन
से करोड़ों आर्य-जन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी
वर्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार
में, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देखकर सन्तोष
लाभ करते हैं। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारत-भूमि
घन-श्याम की अमृत वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन
निपीड़ित प्रजा द्रौपदी रत्ना के लिये कातर स्वर में पुकारती
है। धर्म अपनी दुर्गति पर सर धुनता हुआ 'यदा यदा हि
धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिशा-भंग की

लौडगों की घूम है और कालोश्वर कोई नहीं ।

सब तो जनगल हैं यहाँ, आखिर निपाही कौन है ॥

पर उनमें कितने हैं, जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण के चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है ? नेता नितान्त निर्भय, पर निष्पन्न और विचारों का शुद्ध होना चाहिये, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके ।

महाभारत के युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी हैं, सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिर का सदा हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम को सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशा में भी वह सन्धि के लिए व्याकुल है । बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है । श्रीकृष्ण स्वयं सन्धि के पक्ष में थे । सन्धि के प्रस्ताव को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा । दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध, कपट-कुशल और 'जीते-जुआरी के' दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग में कूटना था । श्रीकृष्ण के दूत बनकर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ । दुर्योधन की कुटिलता और कृष्णता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किर्मी ने उचित न समझा, इस पर वाद-विवाद हुआ । उद्योग-पर्व का वह प्रकरण 'भगवद्‌यानपर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के सन्धि

श्रीकृष्ण को वहाँ जॉने से रोका । श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस काम को आगे थे उसके लिए एक बार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा । वह दुर्योधन के वा पढ़ने और निर्भयता-पूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया । पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना । श्रीकृष्ण उंग फटकार कर चलने लगे, दुर्योधन ने भोजन के लिए आग्रह किया, इस पर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग था । कहा कि—

सम्प्रीति-भोज्यान्यथाणि ग्रापद्भोज्यानि वा पुन ।

न च सम्प्रीयमे राजन् । न चेतापद्गता वयम् ॥

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति भी नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें ?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया । वह अपनी धृष्ट पर लज्जित होकर रह गया ।

1

2

उनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मान-सरोवर और दक्षिण में सेतुबंध-रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में उनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या उनके स्थायी निवास-स्थान थे, जहाँ वे वर्षों रहते और ग्रंथ रचना करते थे। मथुरा-वृन्दावन और कृष्ण-तीर्थों की भी उन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं उनकी “कृष्ण-गीतावली” लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब वे चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में सूरदास उनसे मिलने गये थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी उनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ ‘राम-चरित-मानस’ लिखने बैठे। उसे उन्होंने लगभग ढाई वर्ष में समाप्त किया। राम-चरित का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से उनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को ^{देवनागरी लिपि} हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि

जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित ही नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-भेद था। नीचे लिखे दोहों के अनुसार श्रावण शुक्ला है—

“संवत् सोरहसौ असी, अनी गंग के तीर ।

सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥”

परंतु वेणीमाधव दास के ‘गुसाई-चरित’ में उनकी मृत्यु तिथि संवत् १६८० की ‘श्रावण श्यामा तीज, शनिवार’ लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी। क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना में ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामी जी के घनिष्ठ मित्र टोडरमल के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्ण-पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है; श्रावण शुक्ला सप्तमी को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलज्ज प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सब से बड़ा कारण उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति है। ‘नाना पुराण निगमागम



राम-भक्ति ने उन्हे इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से 'राम-चरित-मानस' को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मान कर, आनंद-मग्न होकर, हम उसके विधि-निपेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भू-भाग में नहीं, सारे उत्तर-भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका 'राम-चरित-मानस' सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है—इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के 'राम-चरित-मानस' और 'विनय-पत्रिका' के अतिरिक्त 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' आदि बड़े ग्रंथ तथा 'वरवै-रामायण', 'रामललानहछू', 'कृष्ण-गीतावली', 'वैराग्य-संदीपनी', 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख 'शिवसिंह-सरोज' में किया है, परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं, कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में संमिलित हो गई हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी द्वारा रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणीमाधव दास ने गोस्वामीजी की 'राम-सतसई' का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक दोहे निलष्ट और पहेली आदि के रूप

में आये हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सके हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सच्चे कला-मर्मियों को नहीं।

तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वातःसुखा लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवि-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आमा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी-कविता के शीर्षसन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले कवीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा अधिक सकुंचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं, तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक

1

1

1

1

1

गोस्वामीजी संस्कृतज और शास्त्रज थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकतर स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इसमें इनके 'राम-चरित-मानस' में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। उनकी 'विनय पत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' आदि में ब्रज-भाषा व्यवहृत हुई है। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का संमिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले इन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। 'राम-चरित-मानस' में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है। परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। 'राम-चरित-मानस' के लंका-कांड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। 'कवितावली' में सवैया और कवित्त

अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। उनमें छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से 'राम-चरित-मानस' के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भाव-व्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनका बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों का बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ जो आज देश की इतनी अमंगल जनता के लिए धर्म-ग्रंथ का काम दे रहे हैं, उनका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू-जाति, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषी भार्या के हृदय-पटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी। इसमें कुछ भी संदेह नहीं।



बालक के अंग पुष्ट होते हैं, उसमें नई शक्ति आती जाती।
 उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावना
 उत्पन्न होती जाती है और समय पाकर वह उस शक्ति
 संपन्न हो जाता है, जिसमें वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि
 करता जाय। फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणि-
 की भिन्नता कैसी आश्चर्य-जनक है, कोई बलवान् है तो को-
 विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, को-
 दयामय है तो कोई क्रूरानिष्ट, कोई सदाचारी है तो को-
 दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो को-
 परलोकचिन्ता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच को-
 सामान्य धर्म भी है या नहीं? विचार करके देखिए। स-
 वाते विचित्र आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर म-
 किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से वृद्ध है। स-
 अपन-अपन नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट हो-
 और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे ह-
 मृ-यु कहते हैं, पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं अंत
 अंत नहीं है, वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं
 मर मर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यो ही वे जी-
 मरत चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकास-शा-
 का विषय है। यह शास्त्र हम को इस बात की जानकारी
 प्रवृत्त करता है और बताता है कि कैसे संसार की सब ची-
 की सम्मानित-म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे कम-कम

उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नतिक्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानो उनके पशुपालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे वे पशुपालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। इषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भू-भागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बटइयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु देकर

निदेशक बन सकन = वह उसका प्रतिस्पर्ध, प्रतिस्पर्ध
 या प्रतिविम्ब कहना सही है। जैसी उसकी सामाजिक
 अवस्था होगी वसी ही उसका साहित्य होगा। किसी देश
 के साहित्य को देख कर हम वह स्पष्ट बना सकते हैं कि
 उसकी सामाजिक अवस्था कसी है वह सभ्यता की सीढ़ी
 किस उँड़ तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य जेठ
 विचारों के विधान तथा व्यक्तियों की स्मृति को नगद
 रखना है। पहले पहले अद्भुत बातों के देखने से जो नए
 विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें धार्मी द्वारा प्रदर्शित करने
 स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत व्यक्तियों
 के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों
 निरूपण में धार्मी का विशेष स्थान स्पष्ट उपयोग में
 आता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रय

आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-भेदकता का भाव निकालने के लिए कबीर नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छोड़ने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इस के दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और

स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों से एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के ^{संघर्ष} से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न हो कर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके! मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुंदर सॉचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव

में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर वैर इसके लिये बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और वैर में केवल काल-भेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर वैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् गायों के संचय की शक्ति होती है। पशु और वृत्त किसी वैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान करा कर उनसे बहुत काल तक बचाव रखने में लिये दिया गया है।



भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं ।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है । क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है । करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है । किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं । इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है । आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है । लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा । लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा : पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब संभाल कर रखा । नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफग़न को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा ।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हे गुण कहते हैं, तीव्र

करुणा

[पण्डित रामचंद्र शुक्ल]

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचन क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण बच्चे को देख कर उनके दुःख का अनुमान करता है और एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता कि जब माँ भूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उनके दि

भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं ।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है । क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है । करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है । किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं । इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है । आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है । लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, गंदे कभी-कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँचाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा । लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब इत्ताल कर रखा । नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर प्रफ़ग़न को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा ।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि गुणों की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र

होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोकर्मों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देख कर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिये बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जान कर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंद



दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की धेरी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्बृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा सुरौबत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है,' 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य भूढ़ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। भूढ़ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में भूढ़ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के वहाने संसार में बहुत-सा

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो “शील” शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे ‘उनकी आँखों में शील नहीं है,’ ‘शील तोड़ना अच्छा नहीं’। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार ‘सदा सत्य बोलना’, ‘बड़ों का कहना मानना’ आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के वहाने संसार में बहुत-सा

और साथ विभाग का काम है उद्देश्य में उस प्रकार परिणित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में जील और मानसिकता का प्रति सम्बन्धन यही माना जाता है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके स्वयं वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म में ही किसी निज स्थान में अपना निवास करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की ओर नहीं आणगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सब के उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उसमें भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और मानसिक हैं तथा जिस अतः करण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह मानसिक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक कृपा वा प्रसन्नता में आत्म भाव छिपा रहता है और उस प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अतः प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अन्यतः अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौबत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है,' 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और सिद्ध्यचार आदि के सहाने संसार में बहुत-स

अतः शास्त्राचार्य ने नियम पर काटें समाज कुपित नहीं होता।
 किन्ना किन्ना यन्त्रणा में तो यन्त्र-प्रयोगों में भ्रष्ट चलते हैं।
 उद्भावनन तक ही गढ़ २ विद्यमान जब इस नियम-भंग होता
 अतः कर्ण ही किन्ना उच्च ओर उदार वृत्ति का साधन होता
 हो। यदि किन्ना २ भ्रष्ट चलन में कोई निरपराध और
 निःसहाय व्यक्ति अनुचित ढङ्ग में बच जाय तो ऐसा
 चलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शास्त्र
 सद्वृत्ति का साधक है, सम कर्तृ नहीं। मनोवेग-वर्जित
 सदाचार केवल इम है। मनुष्य के अतःकरण में सात्त्विक
 की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और
 बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी
 तुलसीदासजी ने भी कहा है—

यत्-उपकार भक्ति न भलाई।

यत्-निरास नहि अवसाद ॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विकास
 किसी न किसी रूप में सात्त्विक-शीलता ही है। अतःकरण
 और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित
 होता है कि किन्ना पुण्य को दूसरे पर करुणा करते देव
 तीसरे का करुणा करुणावाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी
 प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न
 होती। किन्ना को कोय भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि
 करते देव लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखला

के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है । श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

प्रत समय उठि नाखन रोटी ये किन मांगे दैहै ?

ये मेरे बालक कुँवर कन्ह को दिन दिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो ।

हैं तो धान तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥

उपहन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते ।

जोड़ जोड़ मागत मोड़ मोड़ देती झन झन करिकै नहाने ॥

तुम तो देव जानतिहि तैहों तऊ मोहि कहि आवै ।

प्रात उठन मेरे लान लैवैहि नाखन रोटी भवे ॥

अब यह मूर मोहि निनि-आसर दधे रहत जिय मोव ।

अब मेरे अनकलबैने लालन होहै करन नयन ॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशका तक होती है: जैसे एक पति-वियोगिनी खी सदेह करती है—

नश किनारे धुआ उठन है, मैं जान न होय ।

जिनके करण मैं जली, वही न जलन होय ॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करण का अग होना है उसे तो मैंने दिखलाया किन्तु ऐसे दुःख का प्रधान



आत्म-पन-संबंधी एक और ही प्रकाश का प्रकाश होना है जिसे शोक कहते हैं। जिग अति में किसी को यंत्रिणा और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापकों का मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध छाया व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिये संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में किसी का दूर होना उसके लिये उसके संसार के एक अंग का उठ जाना या जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय या मुट्ठ के चिर-वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिल कर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा पूर्ति के संबंध में अपनी वृत्तियों को स्मरण कर और सोच कर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये कला का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली

पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दया कर केवल कर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हतार हो मुँह बना बना कर, कहने लगे हैं—“करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो, बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।”

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होता और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी रुकने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई मेष्टुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसकी दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं में होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। मारा कोई नौकर बहुत बड़का और कार्य करने में अशक्त

किसी ने हमसे (१०००) उधार लिए तो न्याय यह है कि वह (१०००) लौटा दे । यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले । यदि (१०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है । इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता है और कान पकड़ता है और पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है । ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपत्ती अर्थात् जिसका रूपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं । जिसने अपनी कमाई के (१०००) अलग किए, या अपराध द्वारा जो - क्षति-अस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के फलन का शुभ अवसर देती है । करुणा सेंट का सौदा नहीं है । यदि न्याय-कर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे । उसके लिये भी करुणा का द्वार खुला है ।

t

r

j

r

i

राजनीतिक पराधीनता ने भारतवर्ष में भी उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने अन्य देशों में किया, भाषा-विकास के मार्ग में रोड़े अटकाने में कोई कमी नहीं की। इस समय भी हिन्दी को पूरा खुला हुआ मार्ग नहीं मिल रहा है। उसके निज के क्षेत्र पर केवल उसी का आधिपत्य नहीं है। अभी तक इस देश के करोड़ों बालक जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी, कच्ची उम्र ही में साधारण से साधारण विषयों तक की ज्ञान-प्राप्ति के लिए विदेशी भाषा के भार से दाय दिये जाते थे। अब भी उच्च शिक्षा के लिए बालक ही क्या, बालिकायें तक उसी भार के नीचे दबती हैं। उनकी मौलिक बुद्धि व्यर्थ के भार के नीचे दब कर हत-प्रभ हो जाती है, और देश और जाति को उसके लाभ से सदा के लिए वंचित हो जाना पड़ता है। शिक्षित जन अपनी संस्कृति, अपनी भूतकालिक महत्ता, अपने पूर्वजों की कृतियों से दूर तो पड़ ही जाते हैं, वे अपने और अपनों के भी पराये हो जाते हैं। बाल्य-काल से अंग्रेजी की छाया में पढ़ने के लिए विवश होने के कारण हमारे अधिकांश सुशिक्षित जनों के चित्त पर अंग्रेजी इतनी छा जाती है कि वे बहुधा मन में जो कुछ विचार करते हैं, उसे भी अंग्रेजी में ही करते हैं और अपने निकटस्थ जनों से अपनी बात कहते या लिखते हैं तो अंग्रेजी ही में। हिन्दी में लिखे हुए अनेक सुशिक्षित सज्जनों की भाषा-शैली से इस बात का पता चल सकता है। उनका शब्द-विन्यास

और हिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का माप-दण्ड भी ऊँचा हो जाय।

संक्षेप में जो लोग हिन्दी को मातृ-भाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिए कि हिन्दी की जो इधर उन्नति हुई, वह उसकी आगामी ब्राह्म के लिए कदापि ऐसी नहीं है कि हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायगी, वह रकेगी नहीं, अब हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की स्वाभाविक गति के लिए, तो अनेक बाधाओं के हटाने की आवश्यकता है, किन्तु उन सब के दूर होने में, तो, अभी बहुत समय लगेगा, इस बीच में कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अचेत न हो जाँय। साहित्यिक ढंग से, मातृ-भाषा के प्रचार और पुष्टि के लिए जहाँ और जिस प्रकार जो कुछ हो सके, उसका करना हम सब के लिये नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी भाषा-भाषियों के उद्योग से हिन्दी को मातृ-भाषा का पद प्राप्त नहीं हुआ। जैसी परिस्थिति थी उसी देखते हुए, पात्र हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन हिन्दी विद्वान तो फर्मा इस बात को व्यावहारिक बात भी नहीं मान सकते थे कि देश के अन्य भाषा-भाषी लगभग सभी सम्प्रदाय हिन्दी को इतना गौरवान्वित स्थान देने के लिए तैयार हो जाय। किन्तु सार्वदेशिक आवश्यकताओं पटती गई और उस भाव के लिए काम करने वालों के सामने प्रष्ट और अग्रवर्त दो

करते हुए उसके चरणों में चढ़ाया । आज नहीं, जब यह राष्ट्र पूर्ण राष्ट्र हो जाने के योग्य होगा, जब संसार के अन्य ढ़े राष्ट्रों के समकक्ष खड़े होने में यह समर्थ होगा, उस समय, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में उर्दू और उसके द्वारा देश की जो सेवा मुसलमान भारतीयों से बन पड़ी, उसका वर्णन तिहास में स्वर्णांकित अक्षरों में होगा । स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज और गुरुकुलों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में बड़ा काम किया । राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों से राष्ट्र-भाषा के आन्दोलन को बहुत बल मिला । उर्दू प्रान्तों तक में राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव होने लगी । कृष्णस्वामी अय्यर, जस्टिस शारदा-रण मित्र, महाराज सयाजीराव गायकवाड़, जस्टिस गायतोटोप मुखर्जी आदि ने आज से बहुत पहले इस दिशा में हुत उद्योग किया था । अन्य भाषा-भाषियों ने देश-भक्त और राष्ट्र-निर्माण के विचार से हिन्दी को अपना आरम्भ किया । पंजाबी और गुजराती की साहित्य-परिपदों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया । महान्मा गान्धी के इस प्रश्न के अपने हाथ लेने के पश्चात् तो राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार विधिवत् अन्य प्रान्तों में होने लगा, और दक्षिण में जहाँ सबसे अधिक ठिनाई थी, बहुत सन्तोष-जनक काम हुआ है । राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है, और अब देश के विविध भागों से आये हुए

अपनी शक्ति भर भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा की भीतरी और बाहरी वृद्धि के काम में हाथ बटाने के लिए आगे न बढ़े।

मनुष्य के भाग्य का नज़र उसे अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया करता है। मनुष्य के समूह, जातियों और राष्ट्रों के रूप धारण करके दैवी बल की प्रेरणा से अपने हिस्से के विश्व-वृत्त की पूर्ति करते हैं। भाषा और उसके साहित्य के जन्म और विकास की रेखाएँ भी किसी विशेष ध्येय से गल्य नहीं हुआ करतीं। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्य भी बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएँ इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंग-मञ्च पर एक विशेष अभिनय करनेवाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य जाति को उतना ऊँचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चल कर हिन्दी भाषा होने वाली है। हिन्दी को अपने पूर्व-संचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्ड में जिस समय सर्वथा अन्धकार था, लोग अज्ञान और अधर्म में डूबे हुए थे, विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन में उदय नहीं हुआ था, उन समय इस देश से सुदूर देश-देशान्तरों में फैल कर बौद्ध भिक्षुओं ने बड़े-बड़े देशों से लेकर अनेकानेक उपन्यासों, पठारों और तन्कारों

[illegible]

मनुष्यों के बनाये हुए इस कानून का मातृ-भाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली आस्ट्रिया के छीने हुए भू-प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे ज़ुबर्दस्ती अपनी भाषा उतारना चाहता था, किन्तु वह अपनी समस्त शक्ति से भी मातृभाषा के प्रेमियों को न दबा सका। आस्ट्रिया ने हंगरी को पद-दलित कर के उसकी भाषा का भी नाश करना चाहा, किन्तु आस्ट्रिया निर्मित राज-सभा में बैठ कर हंगरी वालों ने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इन्कार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के जेनरल बोथा ने केवल इस बात के सिद्ध करने के लिये कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेज़ी जानते हुए भी, बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृ-भाषा उच में बोलना ही आवश्यक समझा और एक दो-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था।

यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते, किन्तु हैंके मुँदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार, देश की सु-संस्कृति पर वैजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्य पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिए, और जितने बल और क्रिया-शीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत-गति के साथ हम अपनी



कहानी

[मुंशी प्रेमचंद]

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ
वार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में
सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।
इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता
कि इतिहास आदि से अन्त तक हन्या, संग्राम और धोखे
ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ
कूर से कूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम
अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने
गि, 'मनुष्य इतना अमानुष है ! थोड़े न स्वार्थ के लिये
ई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर
लता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता
!" उसे पढ़ कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और
वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो

हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरञ्जन हो जाय,—इसीलिए, सिनेमा-गृहों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अनन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्व-हीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से,—मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो।

सब से उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोविज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोविज्ञानिक सत्य है। इस आघेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना,

१७-नयनिका

॥ ३ ॥ 'अथ न योगा' अथ न योगा न हो, तो
॥ ४ ॥ 'अथ न योगा' अथ न योगा न हो, तो

१. हमारे पास जो भी है, हमें देना चाहते हैं।
 २. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ३. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ४. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ५. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ६. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ७. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ८. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 ९. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।
 १०. हमें अपने जीवन में जो कुछ भी है, हमें देना चाहते हैं।

ही नहीं रहा । उनका महत्त्व केवल पावों के मनोभासों को व्यक्त करने की शक्ति से ही है,—उन्हीं तन्मय, जैसे शान्तिप्राप्त स्वतन्त्र-रूप से केवल पथ्य का एक मोल दृक्ता है, लेकिन उपामक की श्रद्धा से प्रविष्टित होकर देवता बन जाता है।—
 खुलासा यह कि कहानी का आधार अब गढ़ना नहीं, अनुभूति है । आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं थक जाता । उसका उद्देश स्थूल सौन्दर्य नहीं है । वह तो कोई पंसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके ।

यहाँ छोटे, तंग, अँधेरे और गंदे स्थानों में बहुत से लोग मिल कर रहते हैं। फल यह होता है कि वहाँ की वायु दूषित हो जाती है और उससे ज्वर, हेजा और प्लेग आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अधिक मनुष्यों के बहुत पास-पास रहने के कारण इन रोगों को बढ़ने और भयंकर रूप धारण करने अधिक विलंब नहीं लगना और शीघ्र ही बहुत से प्राणों का वलिदान हो जाता है, इसलिये मनुष्य को स्वच्छ वायु की बहुत बड़ी आवश्यकता है। ऐसा प्रायः देखा गया है कि जो लोग दूषित वायु में रहने के कारण रोगी हो गए हों, वे स्वच्छ वायु में रहने से शीघ्र ही निरोग हो जाते हैं। यही कारण है कि नगर में रहनेवालों की अपेक्षा देहात में रहनेवालों का स्वास्थ्य अधिक अच्छा होता है।

मनुष्य को पशु की स्थिति से उन्नत बनाने के लिये उसके वास्ते स्वच्छ घर का प्रबंध करना बहुत आवश्यक है। बालकों की उत्पत्ति घर में ही होती है और वहीं वे संसार के भले-बुरे और कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो घर खुला हुआ है और साफ-सुथरा होता है उसमें रहनेवालों का शारीरिक और नैतिक जीवन दूसरों की अपेक्षा अच्छा होता है। बालकों के चरित्र सुधारने में पाठशालाओं के शिक्षकों की अपेक्षा उनके माता-पिता और भाई-बहनों की सहायता की अधिक आवश्यकता होती है। घर का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर बहुत अधिक पड़ता है और इसी लिये

का कोई प्रबंध कर सकती है। यह काम स्वयं हमारा है। हमें अपना और अपने बाल-बच्चों का स्वास्थ्य उत्तम बनाए रखने के लिये अपने घरों को साफ़ और हवादार रखना बहुत आवश्यक है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को इस संबंध में बहुत कठिनता होती है। जो लोग अपना मकान किराए पर चलाने के लिये बनवाते हैं वे प्रायः रहनेवालों के सुभीते का बहुत ही कम ध्यान रखते हैं। अभी हाल में बंबई में किराए के मकानों के संबंध में एक आदर्श कार्य हुआ है। वहाँ के स्वर्गीय सेठ भगवानदास नरोत्तमदास की धर्मपत्नी ने अपने पति के स्मारक में प्रायः डेढ़ लाख रुपए लगा कर एक मकान बनवाया है। उस मकान में ६६ कुटुंबों के रहने के लिये बहुत ही उत्तम और स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थान बने हैं। यह मकान किराए पर चलाया जाता है। निर्धन मनुष्यों को, जो रहने के लिये अपना मकान नहीं बनवा सकते, इस प्रकार की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो महाजन और धनवान् थोड़े सूद पर अपना रुपया लगाने के साथ परोपकार भी किया चाहते हों, उन्हें ऐसे कार्यों में यथाशक्ति सहायता देकर पुण्य का भागी बनना चाहिए। इंग्लैंड में इस प्रकार के बहुत से मकान बने हुए हैं जिनसे बहुत से लोगों को अच्छा लाभ पहुँचता है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को परस्पर मिल कर भी

मृत्यु

[श्री चतुरसेन शास्त्री]

तू आगई ? अभी से ? पहले से कुछ भी सूचना नहीं दी ? बिना बुलाये ? बिना ज़रूरत ? ना, तू लौट जा । अब मैं नहीं मरना चाहता ।

एकदम सिर पर क्यों खड़ी है ? थोड़ा पीछे हट कर खड़ी हो । ठहर, ज़रा मुझे एक साँस और लेने दे । गला क्यों घोटें डालती है ?

वह तू ही थी ? एक बार आँख भर कर तो देख लेने दे, कैसा तेरा रूप है । तुझे तो कितनी बार पुकारा । मन ने कहा था, सब दुःखों की शान्ति तेरे पास है । तू सब क्यों की दवा है । तब तू न आई थी । कष्ट मिट गये । अब क्या काम है ? ना । अब मैं तुझे नहीं चाहता । जा । वे दिन कट गये हैं । कितना लम्बा जीवन पथ काटा है । रास्ते भर चाहना ने उकसाया और आशा ने भाले दिये, सिद्धि के ना

ममता को थोड़े मिले। मैंने सोचा, तब तक ही दिया, मैं
 मंजिल तो ने करनी ही होती। मैंने भय देखा मैं तब, तब
 देखा न तुम, गिरि की आराधना की। ऐसा बना, मैं
 की हत्या की, आत्म-समर्पण को मैंने समझे, स्वाभ्युप
 संक्रिया दिया, मृत्यु और शान्ति तक को दुर्वचन को,
 अन्न में गिरि मिली है - मिली कहीं मिलने को थोड़े नहीं
 हुई है। अब तब तक ही है - "बसो, अभी बसो!" ना, अभी
 नहीं। अभी तो भाल पम्प कर सामने आया है। तब
 कभी नहीं। ममता समझ बैरागी में बीत गया। रस्ते
 बनी ही बहुत देर में, इतनी देर में कि नन्हे बने भूख से
 मर गई, जड़ जड़ को खा कर मृक गई, मन थक कर
 सोने लगा। पर जब बन ही गई है, तो खा लूँ-जरा चर
 ही लूँ। इतनी स्वाधना की वस्तु कहीं छोड़ी जाती है।
 तू थोड़ी और रुपा कर अभी जा। मेरी इच्छा होगी तो
 मैं फिर तुझे पुकार लूँगा। पड़ते भी तो पुकार था। प्लेस
 बार पुकारा था। तुझे शपथ है, बिना बुलाये मत आना। दुल
 के दिन तो बीत गये, अब किसे मरने की चाह है?

लौट नहीं सकती ? किसी तरह नहीं ? यह तो बड़ा
 अत्याचार है। अच्छा, किसी तरह भी नहीं ? हाय ! मैंने तो
 कुछ तैयारी भी नहीं की। यात्रा क्या छोटी है ? यात्रा
 ही जीवन गया, अब फिर महा-यात्रा ? हे भगवान् ! यह कैसा
 संसार है ? शास्त्र कहते हैं - "यह चक्र है।" अच्छी बात

थी ? चुरा किया, गज़ब किया । हे भाइयों, ज़रूर करना । अकेला जा रहा हूँ । मृत्यु ! मृत्यु ! क्या इसमें थोड़ी भी नहीं ले जा सकता हूँ ? थोड़ी सी, सिर्फ़ तसल्ली लिये । क्या किसी तरह नहीं ? हाय ! हाय ! अच्छा मृत्यु ले, आधा ले ले । इस समय टल जा । सब ही ले जा, मुझे छोड़ दे ।

हरे राम ! तुझे दया नहीं है । कैसी निष्ठुर है, मूर्तिमय हत्यारी है । ऊपर क्यों चढ़ी आती है ? ना—ना—बूना मत हाथ मत लगाना । छूते ही मर जाऊँगा ! हाय ! हाय ! क्या यहीं रहे ? मैं अकेला चला । कुछ भी पहले से मानुम होता तो तैयारी कर लेता । भगवान् का नाम जपता, पुण्य-कर्म करता । कुछ भी न कर पाया । विश्राम के स्थल पर पहुँच कर एक साँस भी अघा कर न ली कि डायन आगई । हे भगवान् ! हे विश्वम्भर ! हे दीनबन्धु ! हे स्वामी ! हा—नाथ ! हे नाथ ! तुम्ही हो—तुम्ही हो—तुम्ही हो ।

4

कोयला—यह तो ईश्वरीय देन है। क्या देव और दानव भाई नहीं ?

हीरा—सोलहो आने सच। लेकिन दानव तू ही हुआ, क्योंकि तू मेरा बड़ा बनता है।

कोयला—कौन दानव है और कौन देव, यह तो कर्म से विदित होगा। अपने मुँह से कहने की क्या आवश्यकता ! फिर देवता के अनुयायी ही असुरों की इतनी निंदा करते आए हैं। यदि देखा जाय, तो बेचारे असुर सदा ही देवताओं से छले गए हैं।

हीरा—अच्छा, रहने दे अपने पास अपनी दार्शनिकता। आ, हम अपनी-अपनी करनी तो देख लें कि तू मेरा बड़ा भाई होने योग्य है या नहीं।

कोयला—बहुत ठीक, बहुत ठीक, तुझे ही अपनी बड़ाई का बड़ा घमंड है, तू ही अपने गुण कह चल।

हीरा—बनता तो है मेरा सहोदर, पर तुझे मेरे गुण तक विदित नहीं। न सही, पर क्या तेरी आँखें भी फूट गई ? पहले तो मेरा रूप ही देख। यदि मुझमें और गुण न भी हों, तो इतना ही मेरी बड़ाई के लिये बहुत है—मैं जहाँ रहता हूँ सूरज की तरह चमकता हूँ, रंग-विरंगी किरनें मुझमें से निकला करती हैं। देखनेवालों की आँखें खुल जाती हैं, तबियत हरी हो जाती है।

कोयला—क्या कहना है, तू तो एक कंकड़-जैसा खान

हे ! मैं तो स्वतंत्रता-पूर्वक दर-दर घूमना ही जीवन की धन्यता समझता हूँ। और, तेरा मूल्य, तुझे याद है या मैं बता दूँ। तेरा सच्चा मोल पंजाब-केसरी रणजीतसिंह ने आँका था—पाँच जूतियाँ। सुना तूने ?

हीरा—रहने दे छोटे मुँह बड़ी बात। तू सदा जलनेवाला—दूसरे का उत्कर्ष कब देख सकता है ? ३

कोयला—हाँ, मैं जलता हूँ, किंतु दूसरों के लिये—मैं अपने कारण दूसरों को तो नहीं जलाता। मैं जल कर गरीबों की भी जरूरतें पूरी करता हूँ—लोगों को विभूति देता हूँ।

हीरा—हाँ, मेरे ही विनिमय के लिये तू उन्हें धनिक है।

कोयला—क्योंकि मैं तो छोटा भाई समझ कर तेरी प्रतिष्ठा ही चाहता हूँ। पर तू तो ठहरा वज्र। तुझे इसका ध्यान कहाँ ?

हीरा—रहने दे अपनी उदारता। मैं इन बातों में आकर अपना मार्ग नहीं छोड़ने का।

कोयला—मैं तुझे यही तो चेताना चाहता हूँ—तेरे दिन पूरे हो चले। संसार शीघ्र ही वह दिन देखनेवाला है। तेरी पूछ न रह जायगी। वह शीघ्र ही कृत्रिम आभूषणों बदले सच्चे आभूषण अपनावेगा। वह गरीबी अमीरी का ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग छोड़ कर एक सरल, सम-तल, सीधे मार्ग से चलनेवाला है।

तो स्वीकार किया। तेरी इस हार के आगे मैं अपना मित्र
झुकाता हूँ।

कोयला—और मैं भी अपने उसी आंतरिक अंधकार
से, जो आलोक का कारण है, तुझे फिर असीसता हूँ कि
ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

अतिथि-सन्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सन्कार किया। परदेसी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—‘आपका पुत्र बड़े काम का है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।’

शिशुपाल ने इस प्रकार मिर उठाया, जैसे किसी ने तर्क को छेड़ दिया हो और नाक भा चड़ा कर उत्तर दिया—‘आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।’

परदेसी ने अपनी भूल पर लजित होकर कहा—‘क्षमा कीजिये, मेरा यह अभिप्राय न था, परन्तु आज-कल वे ब्राह्मण स्धों हैं, अब तो आखे उनके लिए तरसनी हैं।’

शिशुपाल ने उत्तर दिया—‘ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी बल जत्रियों की है।’

‘मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।’

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्त्रता आरम्भ कर दी जिसको सुन कर परदेसी चकित हो गया। उसकी बातें ऐसी युक्ति युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेसी उन पर मुग्ध हो गया। इस मोड़ से गाँव में ऐसा विद्वान, ऐसा तत्त्वदर्शी परिणत हो सकता है इसका उस कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना ज्ञान जान देख कर कहा—‘मुझ खयाल न था कि गोवर में फल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय तो आपका किसी ऊँची पदवी पर नियुक्त कर दे।’

‘मैं प्रमाण दे सकता हूँ ?’

महाराज ने कहा—‘मैं नहीं चाहता ।’

‘तो मुझे क्या आज्ञा होती है ?’

‘मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ ।’

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा, क्या वह सच हो जायगा ?

महाराज ने कहा—‘आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो मैं न्याय का डङ्का बजा दूँगा । मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ । आप तैयार हैं ?’

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—‘हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है, तो मैं तैयार हूँ ।’

‘कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते ही । सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा ।’

‘बहुत अच्छा ।’

‘पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा ।’

‘बहुत अच्छा !’

‘यदि कोई घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा ।’

‘बहुत अच्छा !’

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ में नंगूटी

‘यही कि जब तक तन में प्राण है और जब तक ~~जीवन~~ का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने ~~पैरों~~ से कमी पीछे न हटूँगा।’

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हट कर कहा—‘आप चलती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।’

परन्तु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली, परन्तु अभी वह नया था, पहले ही वार में गिर गया और मर गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोंटे उखल गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु वह मर्म-स्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में राजधानी में आतंक छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते-फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय-मन्त्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई।

घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रखी, परन्तु कुछ पता न लगा।

अतस्तथा का प्रत्येक दिन अशोक की ओघाग्नि की अधि-
काधिक प्रज्वालित कर रहा था। वे कहते—‘तुमने कितने
झोर से न्याय का ढाया किया था, जन फ्या हो गया’ न्याय-
मन्त्री तत्ता से तिर झुका लेते। महाराज कहते—‘घातक कब
तक पकड़ा जाएगा?’ न्याय-मन्त्री उत्तर देते—‘यत्न कर रहा
हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।’ महाराज कुछ दिन उधर कर फिर
पूछते—‘हत्यारा पकड़ा गया?’ न्याय-मन्त्री कहते—‘नहीं।’
महाराज का ओघ बढ़कर उठता, उनकी आँखों से आग की
चिंगारियाँ निकलने लगतीं, दादल की नाई गर्ज कर दोलते -
‘मैं यह ‘नहीं’ सुनते-सुनते तड़ आ गया हूँ।’

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता
न लगा। अन्त में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुला कर
कहा—‘तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है, यदि इस
बीच में घातक न पकड़ा गया, तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।’

इस समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही
मास के अन्दर-अन्दर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उनके
न्याय की चारों ओर धाक बंध गई थी। लोग महाराज को
गातियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते इसी
विषय पर बातचीत करते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी
होजाय परन्तु शिशुपाल का दात बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं



—

—

—



100

101

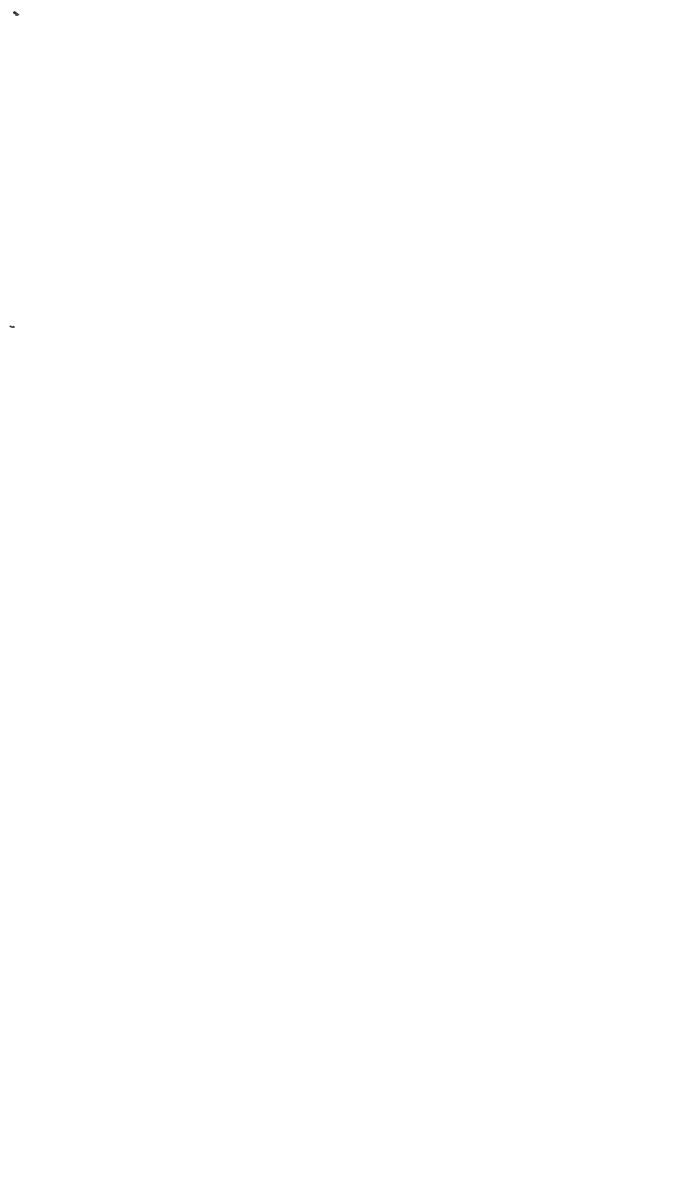
102

1

2

3

4



“पचास हजार कलिंगी सिपाहियों के खेत रहने पर भी उनके पाँव उखड़ते नहीं हैं।”

“इस देश के लोग वीर हैं, मंत्रीजी !” अशोक ने सत्य की रक्षा की—“ऐसों से लड़ने में भी भज़ा आता है।”

“वैशक महाप्रभो !” युद्ध-मंत्री मस्ती से मुस्कराता हुआ बोला—“वीरों से ही लड़ने में अवीरी रंग जमता है। तलवारों के कुमकुमे, खून की पिचकारी—मुँडों का भैरव-गान और रंडों का तांडव-ताल—अहा हा !...”

“कलिंगियों से लड़ कर मेरी भुजाएँ संतुष्ट हो गयीं।”

“मगर यह—यह तो शत्रु के गुण की प्रशंसा हुई—अब अपने दुर्गुण की निंदा भी होनी चाहिये। इतने दिनों से गुप्त-महा-साम्राज्य की सेनाएँ एक छुद्र देश को न हरा सकीं—यह डूब मरने की बात है !” सम्राट् बोले...

“अब हम ज्यादा डट कर—सिमिट कर लड़ेंगे।”

“सिमिट कर या फैल कर—डट कर या हट कर—जैसे भी हो, इन कलिंगियों को हराना होगा।

“नहीं तो, सत्सार हमारी इज्जत पर धूकेगा—हूँ हूँ !” सम्राट् अशोक की मागधी महासेना एक मामूली मुल्क के हठी भर मनुष्यों से हार खा गयी

“ऐसी हार से मौत हजार बार बेहतर है तार बारी

“जय महा-सम्राट् ! सार वीर दराइ डंटे !”

दूसरे दिन मागधी सेना विपुल से कलिङ्गियों के चमकी-तटपी !

लोहे से बजे और लहू की लारों मैदान-जंग में बहने लहरने लगीं !

“कलिङ्गीय महावीर लड़े और लड़े ! दादा गिरा वे बाप लड़ा और बाप के बाद मुकुमार बेटों ने मागधी फौजियों के हाथों से लोहे के चने चबाये.... !

कलिङ्ग देश की वामांगनाएँ भी रणांगण में रो-रूँध आँखें तानें—अशोक साम्राज्यवादी की बर्बादी के लिये—हज़ार-हज़ार की कतारों में जूझने—मरने लगीं ।

मगर अफ़सोस की बात है कि कलिङ्ग देश को वीरता का पुरस्कार—पराजय के रूप में मिला । वह भी तब—जब वह देश लड़ते-लड़ते निर्यत—निर्जन-सा हो गया था ।

तभी तो ! श्मशानवत् कलिङ्ग में प्रेतों की तरह प्रवेष्ट हुए पाटलिपुत्र-पति सम्राट् अशोक के मन में—न जाने विचित्र चुटकी लेने वाला कोई शोक समा गया !
—शोक !!

ले तो कलिङ्ग-विजयी सम्राट् अशोक ने मैदानों और में मुर्दों के ढेर के ढेर देखे ।

किसान जैसे खलिहान में भुस-धान की अटान उठा दे वैसे ही, काल-किसान ने भी रण-खेत में पुरुषार्थ की फ़सल को काट कर जमा कर दिया था !

जैसे शराबी नशा मिलने में देर देख, क्रुद्ध हो बक-भक्त करने लगता है, मगर नशे में आते ही वह उसी व्यक्ति के पाँव चाटने लगता है, फिर चाहे वह घर का नौकर ही क्यों न हो, वैसे ही कलिंग को जीतने तक तो सम्राट् अशोक सर्व-नाश के प्रलयंकर रुद्र बने रहे; मगर, प्रलयोपरांत, रुद्रता की महिमा कितनी मँहगी मड़ती है, यह आँखों देख कर आर्य अशोक का उदार हृदय पिघल उठा—दहल उठा !

उन्होंने यह कोई नया युद्ध नहीं रोपा था ! मागधी महा-साम्राज्य का गरुड़-ध्वज हाथ में—प्राणों की तरह—लेकर अशोक ने एकाधिक बार, हाहाकार-पूर्ण रण-क्षेत्र में, वीर-विहार किया था । अनेक बार अपने अचूक शस्त्र-प्रहारों से उन्होंने शत्रु के मस्त-मस्तक भी धड़ से अलग किये थे । मगर कलिंग-वासियों की वीरता की छाप अशोक के दिल पर बज्र-दृढ़ता से छप गयी ।

विजयी अशोक ने देखा—जो कलिंग स्वर्ग की तरह हरा-भरा और सुंदर था, वही अब उजाड़ और भसान का प्रतिबिम्ब बन रहा है ।

विजयी अशोक ने देखा—कलिंग देश के अपंगु प्राणियों को छोड़ कर बाकी सभी वीर-गति लाभ पर चुके थे, बृहद मैदान में मरे पड़े थे । जवानों पर—जवान, तहसे किये हुए, समर-सेज पर सजे थे । यहाँ तक कि "रखिया उड़ाने"





नादान मुकुमार बालक भी हाथों में लोहा लिये लोह की सैज पर सोये पड़े थे ।

विजयी अशोक को विजित कलिंग में क्या मिला ! धन-धान्य ? नहीं । सुंदरियों का मुंड वीर अशोक के हाथों लगा होगा ? नहीं-नहीं ! तो कलिंगी कैदी कई लाख हुए होंगे ? अजी नहीं—वीर लोग बंदी होने के पूर्व ही वंधन में डालने वाले को साथ लिये, मुक्त हो जाते हैं । विजयी अशोक को कलिंग-विजय से अपयश के सिवा और कुछ भी न मिला ।

विजयी अशोक को कलिंग देश में अगर कुछ मिला—हॉ,—तो मुर्दों का ढेर ! निर्मम अंधेर !! प्राणियों में वर्द्ध मानाएँ, विकल विधवाएँ, अवलाएँ और हजारों लंगड़े-रुहे अंधे-कोढ़ी !

विजयी अशोक का कलेजा काँप उठा ! उनकी एक भक्त के लिये भगवान की दुनिया का एक भाग साफ़ गया—भक्त !

विजयी अशोक को समाचार मिला कि युद्ध के भी—काल का पेट अभी भरपूर नहीं हुआ है । अनेक फैल कर बचे-बचाये बेचारों को चारों ओर से चोरों की घेर-घेर कर मार रहे हैं ।

“विजयी अशोक !” अशोक “आदमी” सोचने “यह विजय है या कसाई-कांड ?

सिक्की मदद युद्ध में लेगा—ज़ल्द विजयी होगा—“यशनें कि
कैसी पाप से यह अपवित्र न हो जाय ।”

“इमीलिये इसको तुम दूर देश में, जंगली लोगों में रख
प्रायो । वहाँ, जहाँ इसके जानकार जा भी न सकें ।”

“ऐसा ही होगा धर्मावतार !” नम्र ज्योतिरी बोला ।

“और !” अशोक सतेज बोले—“मंत्रीजी ! आज से
साम्राज्य की सारी सेनाएँ भंग कर दी जायें । युद्ध-कर्म और
शिकार धर्म बंद कर दिया जाय । आज से अगानी अशोक
नानोज्ज्वल प्रेम से संसार को प्रकाशित करेगा ।

“युद्ध शैतानी है और प्रेम आसमानी !

“हे तथागत ! हे मायेय ! हे गौतम ! दया कर मुझको भी
द्वि युद्ध बनाओ, देव !”

भावों से भरे मगधाधिपति, महा सम्राट् अशोक ने अपने
गौर ‘अपनों’ में अनेक अभावों को चमकते हुए देखा.....! वह
सहर उठे !!

[“घटा से उद्भूत”]

“वेशक—निस्संदेह !” अशोक बोले—“यह विश्व आज अशोक ने समझ लिया कि मृत्यु से प्रेम बड़ा है।”

“महादेव ! आप महान हैं।” ज्योतिषी ने कहा।

“महान यहाँ कुछ भी नहीं है” भरे कंठ से सम्राट् अशोक ने कहा—“महान है यहाँ दुःख, महान है यहाँ अंधकार—महान है यहाँ मायाडंबर !”

“यही बात दीन-बंधु !” मंत्री बोला—“तथागत ने कहा है।”

“महान है यहाँ वह, जो, महानता से बचे—महानता के भी रोग ही समझो—फ़ीलपॉव, कंठमालादि । इस युद्ध में मैंने शांति का रहस्य समझा है, मंत्रीजी !”

“आज्ञा, देव !”

“आज से अशोक परोपकार-व्रती ‘भिक्षु’ बन कर प्रेम से विश्व-विजय की साधना करेगा।”

“इस अष्टधाती घंटे से धर्मावतार !” ज्योतिषी बोला—“आप स्वर्ग पर भी कब्जा कर सकते हैं।”

“दूर करो इस घंटे को ! इस पर, पाली भाषा में, युद्ध से वन्धने का आदेश लिख कर, कहीं दूर देश में, समुद्र के किनारे या पहाड़ के पास इसको गुप्त ढंग से रखवा दो।”

“मगर, धर्मावतार !” ज्योतिषी बोला—“घंटे से मंत्र बल अब अलग हो नहीं सकता, जब कभी और जो कोई

उसकी आत्मा कितनी चलवान् है। मनुष्य का चरित्र ही बतलाता है कि वह कितने पानी का है।

यह चरित्र क्या है जो इतना महत्त्व रखता है? यह चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक बुद्धि, वैज्ञानिक कौशल, काव्य की प्रतिभा, ये सब वाञ्छनीय हैं, परन्तु ये हमारे चरित्र से सम्बन्ध नहीं रखते। फिर, चरित्र में क्या बात आती है? विनय, उदारता, लालच में न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण और वचन का प्रतिपालन करना एवं कर्त्तव्य-परायणता, ये सब गुण चरित्र में आते हैं। चरित्र में इन सब बातों के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें हैं, परन्तु ये मुख्य हैं। ये सब गुण प्रायः स्वाभाविक होते हैं, परन्तु अभ्यास से ये बढ़ाये एवं पुष्ट किये जाते हैं। अभ्यास में सत्संग से बहुत सहायता मिलती है। अभ्यास के लिये वाल्य काल ही विशेष उपयुक्त है। वह काल बनाव का है। बने समय जैसा मनुष्य बन जावे वैसा ही वह जीवन पर्यन्त रहता है। वाल्य-काल में स्नायु-संस्थान कोमल रहता है तथा वह अन्य संस्कारों से दूषित नहीं होता, इस कारण जो उस काल में अभ्यास डाला जाता है, वह सहज ही सिद्ध हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में अन्य संस्कारों के जाने के कारण नये ढिनाई से जमते हैं।

मनुष्य जी
के विकास

जिसमें सब प्रकार
हैं, विद्यार्थी-

चरित्र-संगठन

[श्री गुलाबराय]

मनुष्य की विशेषता उसके चरित्र में है। यदि एक मनुष्य दूसरे से अधिक आदरणीय समझा जाता है तो वह उसके चरित्र के कारण। मनुष्य का आदर उसके पद, धन वा विचार के कारण होता है, परन्तु यह सब एक प्रकार से वाह्य है। पद स्थायी नहीं। यदि स्थायी भी हो तो उसके लिये जो आदर होता है, वह भय के कारण। धन का आदर वही करेगा जिसको धनी से कुछ लाभ उठाने की इच्छा हो। विद्या का मान सज्जन अवश्य करते हैं। वह भी जब विद्या-विनश्वर चरित्र से युक्त हो। रात्रि में विद्या, धन, बल तथा पद भ्रष्ट भी वह अपने राजसी कर्म के कारण निन्दनीय था। सत्कार होकर वन्दनीय नहीं बन जाते। मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र में है। चरित्र में ही उसके बल का प्रकाश होता है और यह पता लगता है कि

होता है। जो लोग इस विद्यार्थी-जीवन में हमारे पथ प्रदर्शक हैं, उनका परम उत्तरदायित्व है कि यह काल केवल प्रसंग संग्रह में ही न चला जावे। बाल्यावस्था फिर लौट कर न आती। भावी चरित्र निर्माण करने का यही सुग्रवसर है। विद्यार्थी और शिक्षक अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझ-निम्न-लिखित सिद्धान्तों पर ध्यान दें और इनसे विद्यार्थियों के चरित्र-संगठन में सहायता लें। यद्यपि ये सिद्धान्त प्राचीन काल से बतलाये जा रहे हैं और इसीलिये इन पर कुछ लिखना नीरस पिष्ट-पेषण समझा जाता है, तथापि इनके प्रचार की आज भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी विद्यार्थियों के प्राचीन काल में थी, और चरित्र-संगठन की आवश्यकता देखते हुए इन पर विवेचना करना समय का दुरुपयोग नहीं समझा जावेगा।

विनय

विनय विद्या का भूषण है। बिना विनय के विद्या शोभा नहीं देती। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का विशेषण “विनय-सम्पन्न” कहा है। जिस विद्या के साथ विनय नहीं है उससे कोई लाभ भी नहीं उठा सकता। विनय केवल विद्या को ही नहीं वरन् धन और बल दोनों को ही शोभा देती है।

जिनेन्द्र ने कृष्ण भगवान् के चक्षुःस्थल पर लात मारी तब भगवान् पूछने लगे कि महाराज ! आपके पैर में चोट तो नहीं आई? विनय का क्या ही उत्तम आदर्श है ! विनय केवल

शिष्टाचार के लिए ही आवश्यक नहीं हैं, वरन् इससे आत्मा की शुद्धि होती है। विनय-शील मनुष्य अभिमान के दोष से बचा रहता है। नम्र-भाव दूसरों में प्रेम-भाव उत्पन्न करता है और अपने में अपूर्व शान्ति अनुभव कराता है। धन, बल और विद्या के होते हुए भी जो विनय करता है उसको कोई कायर नहीं कह सकता। भय-वश विनय आत्मा को गिराती है किन्तु प्रेम और निरभिमानता का विनय आत्मा का उत्थान करती है। विनय का अभाव एक प्रकार का खोखलापन प्रकट करता है। जिन लोगों में कोई श्लाघनीय गुण नहीं होता है वे अपनी ऐंठ तथा डाँट-फटकार से लोगों पर प्रभाव जमाते हैं, किन्तु गुणवानों को इसकी आवश्यकता नहीं, उनका प्रभाव स्वतःसिद्ध है। यदि विनय-शील मनुष्य का समाज में प्रभाव थोड़ा हो तो विनय-शील मनुष्य का दोष नहीं। यह समाज का ही दोष है और इसके अतिरिक्त प्रेम का प्रभाव चाहे थोड़ा हो दयाव के प्रभाव की अपेक्षा, चिरस्थायी होता है। यद्यपि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि विनय सब स्थानों में काम नहीं देती—जैसे, शत्रु के सम्मुख—तथापि हमको यह कहना पड़ेगा कि विनय-शील पुरुष को ऐसे अवसर कम आवेंगे कि उसको अपनी विनय के कारण गौरवहानि का दुःखद अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त जीवन में अधिकांश ऐसे अवसर हैं जिनमें विनय से सगौरव

साधन हो सकता है। खेद तो इस बात का है कि हम लोग मित्र और गुरु-जनों के साथ भी विनय का व्यवहार नहीं करते। विनय के साथ निरभिमानता, मनुष्य जाति का आदर, सहन-शीलता इत्यादि अनेक सद्गुण लगे हुए हैं। इसके अभ्यास में इन सब गुणों का अभ्यास हो जाता है।

उदारता

उदारता का अभिप्राय केवल निस्संकोच भाव से किसी को धन दे डालना ही नहीं, बरन् दूसरों के प्रति उदार-भाव रखना भी है। उदार पुरुष सदा दूसरों के विचारों का आदर करता है और समाज में सेवक-भाव से रहता है। "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" में जो उपदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, बरन् उसमें प्रेम और सेवा की भी उदारता सम्मिलित है। बहुत से लोग आपकी धन-सम्बन्धिनी उदारता की अपेक्षा नहीं करते। बहुत से निर्धन भी इस बात को अपनी निर्धनता के गौरव के विरुद्ध समझते हैं कि वे आपकी आर्थिक सहायता लें, किन्तु वे आपके उदारता-पूर्ण शब्दों के सदा भूखे रहते हैं। यह न समझो कि केवल धन से ही उदारता हो सकती है। सच्ची उदारता इस बात में है कि मनुष्य को मनुष्य समझा जावे। उसके भावों का उतना ही आदर जितना कि अपने का। ऐसा आदर उदारता बरन् कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य में आदरणीय गुण

होते हैं। यह न समझना चाहिये कि धन, विद्या अथवा पद ही आदर का विषय है। गरीब आदमी यदि ईमानदार है तो वह वेईमान घनाट्य की अपेक्षा कहीं आदरणीय है, क्योंकि गरीबी में ईमानदार रहना और भी कठिन है। गरीब ही हमारे आदर का विषय है। मेहनत करने वालों में एक दैवी प्रभा रहती है जो सदा पूजा-योग्य है। जिनको लोग नीच एवं दलित समझते हैं उनके प्रति आदर-भाव रखना मनुष्य की आत्मा को सुख तथा शान्ति देना है। जो लोग अपने साधियों के साथ आदर-भाव रखते हैं, उनकी भूलों को, उनके हठ तथा वैर को स्वयं अपेक्षा-पूर्वक क्षमा कर देते हैं, ऐसे लोग परम उदार हैं। यह उदारता धन की उदारता की अपेक्षा कठिनतर है, तथा उसी अनुपात में अधिक श्लाघनीय है। धन की उदारता के साथ सब से बड़ी एक और उदारता की आवश्यकता है। वह यह कि उपेक्षित के प्रति किसी प्रकार का अहसान न जताया जावे। अहसान दिखाना उपेक्षित को नीचा दिखाना है। अहसान जता कर उपकार करना अनुपकार है। इसीलिए अपने यहाँ गुप्तदान का बड़ा महत्त्व रक्खा गया है।

लालच में न पड़ना

मनुष्य जितना ही चलवान् माना गया, है उतना ही कमज़ोर है। ज़रा से अविचार में मनुष्य का पतन हो जाता है, और वर्षों का तप धूल में मिल जाता है। ~~साधु~~

साधन हो सकता है। खेद तो इस बात का है कि हम लोग मित्र और गुरु-जनों के साथ भी विनय का व्यवहार नहीं करते। विनय के साथ निरभिमानता, मनुष्य जाति का आदर, सहन-शीलता इत्यादि अनेक सद्गुण लगे हुए हैं। इसके अभ्यास में इन सब गुणों का अभ्यास हो जाता है।

उदारता

उदारता का अभिप्राय केवल निस्संकोच भाव से किसी को धन दे डालना ही नहीं, बल्कि दूसरों के प्रति उदार-भाव रखना भी है। उदार पुरुष सदा दूसरों के विचारों का आदर करता है और समाज में सेवक-भाव से रहता है। “उक्तं चरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्” में जो उपदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, बल्कि उसमें प्रेम और सेवा की भी उदारता सम्मिलित है। बहुत से लोग आपकी धन-सम्वन्धिनी उदारता की अपेक्षा नहीं करते। बहुत से निर्धन भी इस बात को अपनी निर्धनता के गौरव के विरुद्ध समझते हैं कि वे आपकी आर्थिक सहायता लें, किन्तु वे आपके उदारता-पूर्ण शब्दों के सदा भूखे रहते हैं। यह न समझो कि केवल धन से ही उदारता हो सकती है। सच्ची उदारता इस बात में है कि मनुष्य को मनुष्य समझा जावे। उसके भावों का उतना ही आदर किया जावे जितना कि अपने का। ऐसा आदर उदारता नहीं है बल्कि कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य में आदरणीय गुण



केवल धन का ही लालच नहीं, वरन् हर एक प्रकार का लालच होता है। लालच इसलिए दिया जाता है कि मनुष्य स्वकर्त्तव्य से च्युत हो जाय। किन्तु मनुष्य की श्रेष्ठता इसमें है कि वह न्याय-पथ से न हटे। महाराजा दिलीप को हर प्रकार का लालच दिया गया, किन्तु वह कर्त्तव्य से न हटे। प्राण वस्तु के त्याग से, अप्राप्त परन्तु प्राप्य वस्तु का त्याग अधिक कठिन है। यद्यपि लालच के सुलभ प्रसंग होते हुए लालच के ऊपर विजय करने में बहादुरी है, तथापि विप्र पुरुष को यही चाहिए कि वह लालच से दूर ही रहे। ईसाई लोग ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—“या खुदा ! मुझे इम्तिहान में मत डाल”। बहुत से लोग जान-बूझ कर लालच के स्थान में जाते हैं और कहते हैं कि “विकार-हेतौ सति विचिन्ते येषां न चेतासि त एव धीरा”—यह ठीक नहीं। जहाँ तक थोड़े से भी लालच से बचने का प्रयत्न किया जावे। जो थोड़े से लालच पर विजय नहीं पा सकते, वे बड़े लालच से किस प्रकार बच सकते हैं ? हमारे यहाँ भगवान् श्री रामचन्द्रजी का ज्वलन्त उदाहरण मौजूद है। उन्होंने साम्राज्य का लालच छोड़ा और कर्त्तव्य से विमुक्त न हुए। यदि वह ज़रा ढील डालते तो महाराज दशरथ तुरन्त अपने वचन से फिर जाते। यद्यपि विषय-भोग-सम्बन्धी लालच में पड़ जाने के उदाहरण विश्वामित्र आदि हैं तथापि उनके साथ भीष्म पितामह, अर्जुन और उर्वशी, रम्भा, युकादि

हुआ; और वनवास से ग्लान-मुख नहीं हुए। इसीसे वह जगद्-चन्दनीय हो रहे हैं।

सहकारिता

यद्यपि सहकारिता के लाभ प्रत्यक्ष हैं, तथापि कुछ लोग असहकारिता में ही अपना गौरव मानते हैं। लोगों का यह भ्रम है कि सहकारिता में हम अपनी न्यूनता स्वीकार करते हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है, उसका अकेले काम चलना अत्यन्त कठिन हो जावेगा। हम नहीं जानते कि हम भी दूसरों की सहकारिता से कितना लाभ उठाते हैं। स्वयं अपनी सहकारिता से दूसरों को वञ्चित रखना कृतघ्नता है। सहकारिता में मनुष्य की एकता एवं समाज की स्थिति का मूल है। सहकारिता को चरित्र के भीतर इसीलिए रखा है कि उसमें एक प्रकार का वृथाभिमान त्यागना पड़ता है।

सत्य बोलना और वचन का पालन करना

सत्य बोलना सब से सहज बात है, क्योंकि उसमें क-मिच-के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। सत्य बोलने के लिए बड़े आध्यात्मिक बल की आवश्यक है। जहाँ तक हो अप्रिय-सत्य न बोला जावे, किन्तु जहाँ प्रिय-सत्य न बोलने से समाज के हित की हानि होती है, उसको प्रियता के लिए दबाना पाप है। चरित्रवान् अपनी आत्मा में इतना बल रखना चाहिए कि साथ कह सके। सत्य मनसा, वाचा, कर्म



कहाँ चरावें, कुछ ऊसर-परती कहीं चरने के लिए बची भी है ?—मधुवा ने कहा !

बज्जो अपनी भूरी लटों को हटाते हुए बोले—मधुवा गंगा में घंटों नहाता है, बापू ! गाँव अपने मन से चरा करती हैं । यह जब बुलाता है तभी सब चली आती हैं ।

बज्जो की बात न सुनते हुए बाबा जी ने कहा—तू ग्रीक कहता है, मधुवा ! पशुओं को खाने-खाते मनुष्य, पशुओं के भोजन की जगह भी खाने लगे । ओह ! कितना इनका पेट बढ़ गया है ! चाह रे समय !!

मधुवा बीच ही में बोल उठा—बज्जो ! बनिया ने कहा है कि सरफोंका की पत्ती दे जाना, अब मैं जाता हूँ ।

कह कर वह भोंपड़ी के बाहर चला गया । सन्ध्या गाँव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी ।

अन्धकार के साथ ही ठण्ड बढ़ चली । गंगा की कटार की झाड़ियों में सन्नाटा भरने लगा । नालों के करारों में चपराहों के गीत गूँज रहे थे ।

बज्जो दीप जलाने लगी । उस दृष्टि कुटीर के निर्मम अन्धकार में दीपक की ज्योति तारा-सी चमकने लगी !

बुढ़े ने पुकारा—बज्जो !

‘आई’—कहती हुई वह बुढ़े की खाट के पास आ बैठी और उमका स्निग्ध सहलाने लगी । कुछ ठहर कर बोली—बापू ! उस अकाल का हाल न मुनायोगे ?

वह एक टक उसी गुलाबी आकाश को देखने लगी। अलख रेखाओं सी भय-भीत कराकुल पंक्तियों की पंक्तियाँ 'कर-कर' करती हुई सन्ध्या की उस शान्त चित्रपट्टी के अनुराग पर कालिमा फेरने लगी थीं।

हाय राम ! इन काँटों में—कहाँ आ फँसा !

वज्रो कान लगा कर सुनने लगी।

फिर किसी ने कहा—नीचे करारे की ओर उतरने में तो गिर जाने का डर है, इधर ये काँटेदार झाड़ियाँ ! अब किधर जाऊँ ?

वज्रो समझ गई कि कोई शिकार खेलने वालों में से इधर आ गया है। उसके हृदय में विरक्ति हुई—उँह, शिकारी पर दया दिखाने की क्या आवश्यकता ? भटकने दो।

वह घूम कर उसी मैदान में बैठी हुई एक श्यामा गौ को देखने लगी। बड़ा मधुर शब्द सुन पड़ा—चौबेजी ! आप कहाँ हैं ?

अब वज्रो को वाध्य हो कर उधर जाना पड़ा। पहले काँटों में फँसने वाले व्यक्ति ने चिल्ला कर कहा—खड़ी रहिए; इधर नहीं—ऊँह-ऊँ ! उसी नीम के नीचे ठहरिए, मैं आता हूँ, इधर। ऊँचा-नीचा है।

चौबेजी ! यहाँ तो मिट्टी काट कर बड़ी अच्छी सीढ़ियाँ हैं; मैं तो उन्हीं से ऊपर आई हूँ।—रमणी के कोमल कंठ से यह सुन पड़ा।

अंधेरे में भी ठीक-ठीक उसी सीढ़ी के पास जाकर खड़ी हो गई, जिसके पास नीम का वृक्ष था।

उसने देखा कि चौबेजी बेतरह गिरे हैं। उनके घुटने में चोट आ गई है, वह स्वयं नहीं उठ सकते।

सुकुमारी सुन्दरी के घूँते के बाहर की यह बात थी। वज्रो ने भी हाथ लगा दिया। चौबेजी किसी तरह काँखते हुए उठे। अन्धकार के साथ-साथ सरदी बढ़ने लगी थी। वज्रो की सहायता से सुन्दरी, चौबेजी को, लिवा ले चली, पर कहाँ? यह तो वज्रो ही जानती थी।

भोपड़ी में बुड़्ढा पुकार रहा था—वज्रो ! वज्रो !! वड़ी पगली है। कहाँ घूम रही है ? वज्रो, चली आ !

भुरमुट में घुसते हुए चौबेजी तो कराहते थे, पर सुन्दरी उस वन-विहंगिनी की ओर आँखें गड़ा कर देख रही थी और अभ्यास के अनुसार घन्यवाद भी दे रही थी।

दूर से किसी की पुकार सुन पड़ी—शैला ! शैला !!

ये तीनों भाड़ियों की दीवार पार कर के, मैदान में आ गए थे। वज्रो के सहारे चौबेजी को छोड़ कर शैला फिरहर की तरह घूम पड़ी। वह नीम के नीचे खड़ी होकर कहने लगी—

सीढ़ी से इन्द्रदेव—! बहुत ठीक सीढ़ी है। हाँ, संभालो : चले आओ। चौबेजी का तो घुटना ही टूट गया है। हाँ

है, चले आओ। कहीं-कहीं जड़े बुरी तरह से निकल आ रहे हैं, उन्हें बचा कर आना।



के सहारे चौबेजी को कगलते देग कर इन्द्रदेव ने कहा—
क्या सनमुन में ये मान लें कि तुम्हारा घुटना टूट गया!
मैं इस पर कभी विन्यास नहीं कर सकता। चौबे! तुम्हारे
घुटने 'टूटने वाली हठी' के बने ही नहीं।

सरकार! यही तो मैं भी सोच कर चलने का प्रयत्न कर
रहा हूँ। परन्तु.....आह! बड़ी पीड़ा है, मोच आ गई होगी
तो भी इस छोकरी के सहारे थोड़ी दूर चल सकूँगा
चलिये।—चौबेजी ने कहा।

अभी तक वज्रो से किमी ने न पूछा था कि तू कौन है
कहाँ रहती है, या हम लोगों को कहाँ लिया जा रही है!

वज्रो ने स्वयं ही कहा—पास ही भोपड़ी है। आप तो
वहीं तक चलिए, फिर जैसी इच्छा।

सब वज्रो के साथ मैदान के उस छोर पर जलने का
दीपक के सम्मुख चले, जहाँ से "वज्रो! वज्रो" कह कर के
पुकार रहा था। वज्रो ने कहा—आती हूँ।

भोपड़ी के दूसरे भाग के पास पहुँच कर वज्रो क्षण-भर
लिये रुकी। चौबेजी को छप्पर के नीचे पड़ी हुई एक खाट
वैठने का संकेत करके वह घूमी ही थी कि बुड्डे ने कहा
वज्रो! कहाँ है रे? अकाल की कहानी और अपनी कथा न
सुनेगी? मुझे नींद आ रही है।

'आ गई'—कहती हुई वज्रो भीतर चली गई। बगल के
छप्पर के नीचे इन्द्रदेव और शैला खड़े रहे। चौबेजी खाट

तो उन्हें बिठा दे छप्पर में—और दूसरी जगह ही कौन है !
और वज्रो ! अतिथि को बैठा ही देने से काम नहीं चल जाता
दो चार टिकर सँकने की भीसमझी ?

नहीं-नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं—कहते हुए इन्द्रदेव
बुड्ढे के सामने आ गए । बुड्ढे ने धुंधले प्रकाश में देखा—
पूरा साहवी टाट ! उसने कहा—आप साहब यहाँ.....

तुम घबराओ मत, हम लोगों को छावनी तक पहुँच जले
पर किसी बात की असुविधा न रहेगी । चौबेजी को चोद
आ गई है, वह सवारी न मिलने पर रात-भर यहाँ पड़े रहेंगे ।
सवेरे देखा जायगा । छावनी की पगडंडी पा जाने पर हम
लोग स्वयं चले जायँगे । कोई.....

इन्द्रदेव को रोक कर बुड्ढे ने कहा—आप धामपुर की
छावनी पर जाना चाहते हैं ? जमींदार के मेहमान हैं न !
वज्रो ! मधुवा को बुला दे, नहीं तू ही इन लोगों को वज्रिया
के बाहर उत्तर वाली पगडंडी पर पहुँचा दे । मधुवा !! ओ रे
मधुवा !—चौबेजी को रहने दीजिए, कोई चिन्ता नहीं ।

वज्रो ने कहा—रहने दो वापू ! मैं ही जाती हूँ ।

शैला ने चौबेजी को कहा—तो आप यहीं रहिए, मैं जाकर
सवारी भेजती हूँ ।

रात को भँसट बढ़ाने की आवश्यकता नहीं, बटुए में
जल-पान का सामान है, कम्रल भी है । मैं इसी जगह रात



जो जड़ी का तेल है, उसे लगा कर ब्राह्मण का घुटना सँकड़े, उसे चोट आ गई है।

मधुवा तेल लेकर घुटना सँकने चला।

वज्रो पुआल में कम्बल लेकर घुसी। कुछ पुआल और कुछ कम्बल से गले तक शरीर ढँक कर वह सोने का अभिनव करने लगी। पलकों पर ठण्ड लगने से बीच-बीच में वह आँख खोलने-मूँदने का खिलवाड़ कर रही थी। जब आँखें बन्द रहतीं, तब एक गोरा-गोरा मुँह—करुणा की मिठास से भरा हुआ गोल-मटोल नन्हा सा मुँह—उसके सामने हँसने लगता। उसमें ममता का आकर्षण था। आँख खुलने पर वही पुरानी भोपड़ी की छाजन! अत्यन्त विरोधी दृश्य॥ दोनों ने उसके कुतूहल-पूर्ण हृदय के साथ छेड़-छाड़ की किन्तु विजय हुई आँख बन्द करने की। शैला के संगीत के समान सुन्दर शब्द उसकी हृत्तन्त्री में झनझना उठे! शैला के समीप होने की—उसके हृदय में स्थान पाने की—बलवती वासना वज्रो के मन में जगी। वह सोते-सोते स्वप्न देखने लगी। स्वप्न देखते-देखते शैला के साथ खेलने लगी।

मधुवा से तेल मलवाते हुए चौबेजी ने पूछा—क्यों जी! तुम यहाँ कहाँ रहते हो? क्या काम करते हो? क्या तुम इस बुढ़े के यहाँ नौकर हो? उसके लड़के तो नहीं मालूम पड़ते?

परन्तु मधुवा चुप था।

चौबेजी ने घबरा कर कहा—बस करो, अब दर्द नहीं रहा। बाह-बाह ! यह तेल है या जादू ! जाओ भाई, तुम भी सो रहो। नहीं-नहीं, ठहरो तो, मुझे थोड़ा पानी पिला दो।

मधुवा चुपचाप उठा और पानी के लिये चला। तब चौबेजी ने धीरे से बटुआ खोल कर मिठाई निकाली, और खाने लगे। मधुवा इतने में न जाने कब लोटे में जल रख कर चला गया था।

और बच्चो सो गई थी। आज उसने नमक और तेल से अपनी रोटी भी नहीं खाई। आज पेट के बदले उसके हृदय में भूख लगी थी। शैला से मित्रता—शैला से मधुर परिचय—के लिये न जाने कहाँ की साथ उमड़ पड़ी थी। सपने पर सपने देख रही थी। उस स्वप्न की मिठास में उसके मुख पर एक प्रसन्नता की रेखा उस दरिद्र-कुटीर में नाच रही थी।

मुण्डमाल

[श्री शिवपूजन सहाय]

१

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है । नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है । मालूम होता है कि किसी ने यहाँ के कुँआरों में उमंग की भंग धोल दी है । नव-युवकों की मूँछों में ऐंठ भरी हुई है, आँखों में ललई छा गई है । सबकी पगड़ी पर देशानुराग की कल्लगी लगी हुई है । हर तरफ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है । बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुन कर चौगुने होते जा रहे हैं । नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है । उदयपुर की धरती धाँसे की धुधुकार से डगमग कर रही है । रण-राय से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं । मतवाले हाथी हर ओर से, काले मेघ की तरह, उमड़े चले आते हैं । घंटों की आवाज़ से सारा नगर गूँज रहा है । शस्त्रों की भनकार

के कारण मेरी एक प्यारी वहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरवली शिखर के ऊँचे मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिए कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिये होतीं, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-वधूटी उत्तरा देवी यदि अभिमन्यु को भोग विलास के भयङ्कर बन्धन में जकड़ दिये होतीं, तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्रगण्य होते? मैं समझती हूँ कि यदि तारा की बात मान कर वालि भी, घर के कोने में मुँह छिपा कर, डरपोक जैसा छिपा हुआ रह गया होता, तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि प्राप्त न होती। सती-शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई जरूर; लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता, बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय कीर्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्प-लतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगा-जल से भी बढ़ कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रण-भूमि में ब्रज मंडल की सी होली मचाने वाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सह-गामिनी

चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुञ्चित है। रत्नारे लोचन-ललाम रस-रस में पगे हुए हैं।

उधर रानी विचार कर रही हैं—“मेरे प्राणेश्वर का मुझ में ही यदि लगा रहेगा, तो विजय लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सौभाग्य पर संकट आने का भय है। कुछ ग्रंथों में यह स्वामाविधि भी है।”

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतरती हैं। तब न क चूड़ावतजी का अन्तिम संवाद लेकर आया हुआ एक भिक्षु सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—“चूड़ावतजी जिसे चाहते हैं—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। सन्तोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिये। उन्होंने कहा है, ‘तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठ कर इसे रसभूमि की ओर लिये जा रही है; हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़ कर जा रहे हैं।’”

स्नेह-सूचक संवाद सुन कर रानी अपने मन में विचार रही हैं—“प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा, तब तक निश्चय ही वे कृत-कार्य नहीं होंगे।” इतना सोच कर बोलीं—“अच्छा खड़ा रह, मेरा लिए लिये जा।”

जब तक सेवक ‘हाँ ! हाँ !’ कह कर चिला उठता है, तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लज्जेदार

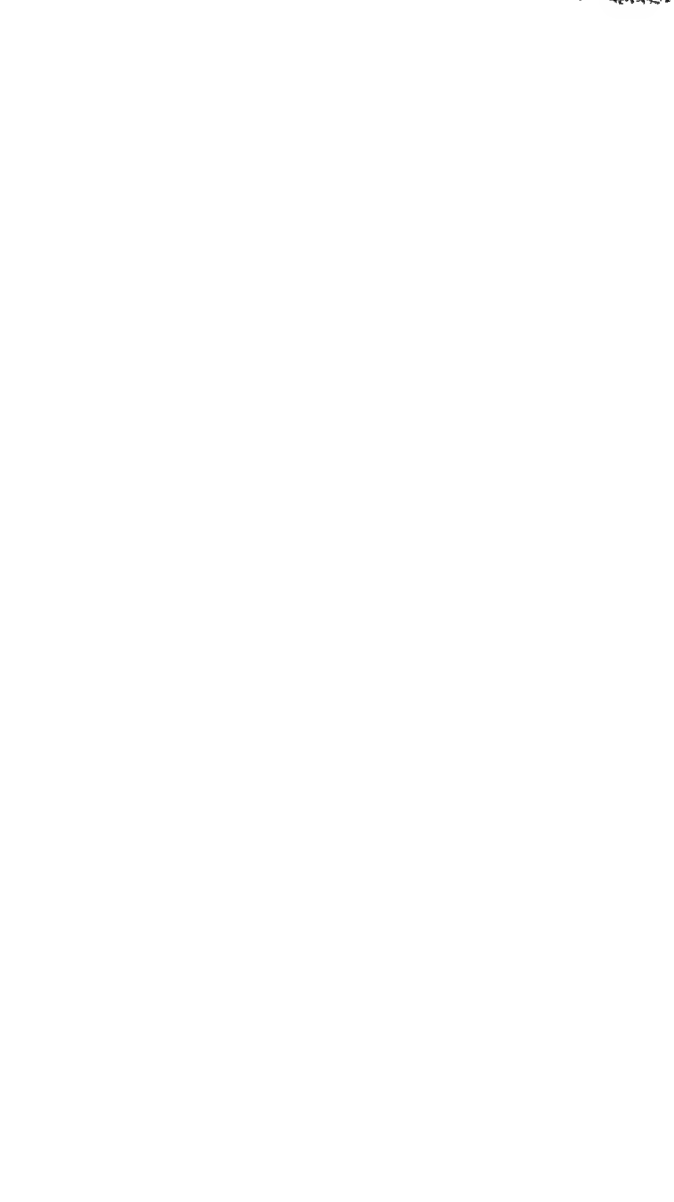


जैसे जाता मुण्ड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के
मंगमर्मी फर्श को सती रक्त से सींच कर पवित्र करता हुआ,
बहाम से धरती पर गिर पड़ा !

वेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल
विद्या का चिह्न' काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी
को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व
आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ
धड़धड़ बढ़क उठीं।

गुण्यों से सींचे हुए मुलायम वालों के गुच्छे को दो
हिन्नों में चीर कर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से
भरे हुए सुन्दर शीश को, गले में लटका लिया। मालूम हुआ,
नाना स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का
नाग करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले
नाग लिपट रहे हैं या लम्बी-लम्बी सटकार लट्टे हैं। अटारियों
परने सुन्दरियों ने भर-भर अञ्जली फूलों की वर्षा की,
नाना स्वयं की मानिनी अप्सराओं ने पुष्प-चृष्टि की। बाजे-
गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ, आकाश फाड़ने वाला,
एक गम्भीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—

“धन्य सुन्दरना !”



पैदा करते रहे; मगर अब मटर के सत्त पर बेचारे के लड़का पैदा करें ! सचमुच अमीरी की क़य पर पनपी हुई गरीबी बड़ी ही ज़हरीली होती है !

२

भगजोगनी चूँकि मुंशीजी की गरीबी में पैदा हुई और जन्मते ही माँ के दूध से वञ्चित हो कर 'टूअर' कहलाने लगी, इसलिए अभागिन तो बेहद थी, उसमें शक नहीं; पर मुन्दरता में वह अंधेरे घर का दीपक थी । आज-कल धैर्यी मुघर, लड़की किसी ने कभी कहीं न देखी !

अभाग्यवश मैंने उसे देखा था ! जिस दिन पहले-पहल उसे देखा, वह क़रीब ग्याह-बारह वर्ष की थी । पर एक ओर उसकी अनूठी मुवगई और दूसरी ओर उसकी दर्दनाक गरीबी देख कर, सच कहना है, कलंजा काँप गया । यदि कोई भावुक कहानी-लेखक या सहृदय कवि उसे देख लेता, तो उसकी लेखनी में अनायास करुणा की धारा फूट निकलती । किन्तु मेरी लेखनी में इतना जोर नहीं है कि उसकी गरीबी के भयावह चित्र को मेरा हृदय उतार कर 'सरोज' के इस कोमल 'दल' पर और, सच्ची घटना होने के कारण, केवल प्रभाव के लिए, मुझसे बड़कीनी भाषा में लिखने की । भाषा में गरीबी को टीक-टीक चित्रित करने

दिन भी भर-पेट अन्न के लाले पड़े थे। भला हड्डियों के खँड़र में सौन्दर्य-देवता कैसे टिके रहते !

३

उफ़ ! उस दिन मुंशीजी जब रो-रोकर दुखड़ा सुनाने लगे, तब कलेजा टूक-टूक हो गया। कहने लगे—

“क्या कहूँ, बाबू साहब ! पिछले दिन जब याद आते हैं, तब गेश आ जाता है। यह गरीबी की तीखी मार इस लड़की की वजह से और भी अखरती है। देखिये, इसके सिर के बाल कैसे खुश्क और गोरखधन्धारी हो रहे हैं। घर में इसकी माँ होती, तो कम से कम इसका सिर तो जूँओं का अड्डा न होता। मेरी आँखों की जोत अब ऐसी मन्द पड़ गई कि जूँएँ सूझतीं नहीं। और, तेल तो एक बूँद भी मिलता नहीं। अगर अपने घर में तेल होता, तो दूसरे के घर जाकर भी कंघी-चोटी करा लेती, सिर पर चिड़ियों का घोंसला तो न बनता ! आप तो जानते हैं, यह छोटा-सा गाँव है, कभी साल-छमासे में किसी के घर बच्चा पैदा होता है, तो इसके रुखे-सूखे वालों के नसीब जगते हैं !

“गाँव के लड़के, अपने-अपने घर भर-पेट खाकर, जब भोलियों में चबेना लेकर खाते हुए घर से निकलते हैं, तब उनकी बाट जोड़ती रहती है—उनके पीछे-पीछे लगी है, तो भी मुश्किल से दिन में एक-दो मुट्ठी चबेना पाता है। खाने-पीने के समय किसी के घर पहुँच

वे भी ऐसे खर्चीले थे कि अपने कफन-काठी के लिए भी एक फूटी कौड़ी न छोड़ गये—अपनी ज़िन्दगी में ही एक-एक चप्पा ज़मीन बेच खाई—गावँ-भर से ऐसी दुश्मनी बढ़ाई कि आज मेरी इस दुर्गत पर भी कोई रहम करने वाला नहीं है, उल्टे सब लोग तानेज़नी के तीर बरसाते हैं। एक दिन वह था कि भाई साहब के पेशाब से चिराग जलता था, और एक दिन यह भी है कि मेरी हड्डियाँ निर्धनता की आँच से मोमवत्तियों की तरह घुल-घुल कर जल रही हैं।

“इस लड़की के लिए आस-पास के सभी जवारी भाइयों के यहाँ मैंने पचासों फेरे लगाये, दाँत दिखाये, हाथ जोड़ कर विनती की, पैरों पड़ा—यहाँ तक बेहया होकर कह डाला कि बड़े-बड़े वकीलों, डिप्टियों और जमींदारों की चुनी-चुनाई लड़कियों में मेरी लड़की को खड़ी करके देख लीजिये कि सबसे सुन्दर जँचती है या नहीं, अगर इसके जोड़ की एक भी लड़की कहीं निकल आये तो इससे अपने लड़के की ५५ मत कीजिये। किन्तु मेरे लाख गिड़गिड़ाने पर भी भाई का दिल न पिघला। कोई यह कह कर टाल देता लड़के की माँ ऐसे घराने में शादी करने से इनकार करती जिसमें न सास है, न साला और न बारात की खातिर करने की हैसियत। कोई कहता कि गरीब घर की लड़की चटोर और कंजूस होती है, हमारा खानदान बिगड़ जायगा। ज्यादातर लोग यही कहते मिले कि हमारे लड़के

“अब अधिक क्या कहूँ, बाबू साहब ! अपनी ही करनी का नतीजा भोग रहा हूँ। मोतियाबिन्द, गठिया और दमा ने निकम्मा कर छोड़ा है। अब मेरे पछतावे के आँसुओं में भी ईश्वर को पिघलाने का दम नहीं है। अगर सब पूछिये, तो इस वक्त सिर्फ़ एक ही उम्मीद पर जान अटकी हुई है—एक साहब ने बहुत कहने-सुनने से इसके साथ शादी करने का वायदा किया है। देखना है कि गाँव के छोटे लोग उन्हें भी भड़काते हैं, या मेरी भौंभरी नैया को पार लगने देते हैं। लड़के की उम्र कुछ कड़ी ज़रूर है—इकतालिस-बयालिस साल की; मगर अब इसके सिवा कोई चारा भी नहीं है। छाती पर पत्थर रख कर अपनी इस राज-कोकिला को।”

इसके बाद मुंशीजी का गला रुँध गया—बहुत विलख कर रो उठे और भगजोगनी को अपनी गोद में बैठा कर फूट-फूट रोने लग गये। अनेक प्रयत्न करके भी मैं किसी प्रकार उनको आश्वासन न दे सका। जिसके पीछे हाथों के वाम विधाता पड़ जाता है, उसे तसल्ली देना ठूठा है।

× × × × ×

जीजी की कहानी सुनने के बाद मैंने अपने कई क्वारे से अनुरोध किया कि उस अलौकिक रूपवती दृष्टि से विवाह करके एक निर्धन भाई का उद्धार और

गृहिणी

[श्री भारतीय]

हम उन नये सिरे के बंगले वालों की बात नहीं करते, पर मध्यम श्रेणी के प्रायः सभी घरों में आपको 'गृहिणी' अवश्य देखने को मिलेगी । 'गृहिणी' के अनेक पर्याय भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा व्यवहार में आते हैं । कोई 'घरवाली' कहता है, कोई 'श्रीमतीजी' के नाम से पुकारता है । वृद्ध लोग 'बच्चन, लल्लन, रामा, श्यामा अर्थात् अमुक की माँ' कहते हुए देखे गये हैं । सारांश यह कि पति-देव की अवस्था के अनुसार हमारी गृहिणी का भी नामकरण बदलता रहता है । हमें इन अनेक पर्यायों से सरोकार नहीं, हम तो 'गृहिणी' का नाम करने बैठे हैं ।

हमारी गृहिणी मध्यम श्रेणी की स्त्री होती है, न अधिक न अधिक दुबली, न अधिक लम्बी, न बहुत ठिगनी ।
श्री भारतीय स्त्रियों का-सा रंग-रूप । चेहरे का कटाव



पानी और नौकर पर उतरता है। सब अभ्यस्त हैं। सुनते हैं, मुत्तकारते हैं। मिसरानी सहानुभूति में दो-एक बूंद आँसू टपका देती है। उसकी विधवा आँखों में आँसुओं की कमी नहीं, और किसी वस्तु की हो तो हो!

दोपहर होने को आता है। गृहिणी भोजन करने बैठती है। कच्चा-पका, जला-ठण्डा, जो कुछ सामने आता है, खाती है। मिसरानी को डाँटती है। आगे से स्वयं रसोई का काम अपने ऊपर लेने की प्रतिज्ञा करती है। इतने में बच्चे फिर अपना खेल आरम्भ करते हैं। कोई गिर पड़ा है, कोई सो कर पड़ा है, किसी ने मुँह में काजल पोत लिया है, किसी ने मिर्च चबा ली है। भोजन अभी समाप्त नहीं हुआ, पर गृहिणी उसे छोड़ कर चालकों का नाटक देखने उठ पड़ती है। यह तमाशा चार बजे तक रहता है। फिर गृहिणी अपने सारे बचकाने कुटुम्ब के साथ बावूजी की प्रतीक्षा करती है। सोचती है, "आते ही क्षमा माँगूंगी। सबरे खा ही नहीं सके, इस समय स्वयं अपने हाथों बना कर खिलाऊँगी।" मिसरानी की पुकार होती है। लड़के उसके सिपुर्दे होते हैं। गृहिणीजी 'गृह प्रबन्ध' में लगती है। जल-पान तयार होना जाता है। चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ा दिया गया। पाय रोटी फाट कर रख दी गई। घेनीटी नुल्ला रखा है। महंगा पैसन फेंक रखा है। गृहिणी सोच रही है—उत्पन्न फल-फाँव पीलों से काम क्या हो। सबर नी ना भर







पुत्री के समय पर आनन्द मनायेगी—सारांश यह कि जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना उसके भावों को विचलित करेगी, उन्हें प्रकट करेगी। यह सब क्षण-क्षण पर होता रहने पर भी वह गृहिणी के व्यक्तित्व को न छू सकेगा। उसकी आत्मा इसकी अवहेलना, असारता को मानो खूब समझती है। गीता की आवृत्ति चाहे उसने न की हो, पर उसके सार-सार्भित सिद्धान्त मानो उसके रोम-रोम में घर कर गये हैं। गृहिणी जन्म भर अपने छोटे संसार में होने वाली सारी घटनाओं को उन्हीं आँखों से—उन्हीं विचारों से—देखती है, जिनसे नटकपट्ट में वह गुड़े-गुड़ियों का खेल खेलती थी। वह उस में भी, रोती थी, हँसती थी, आश्चर्य करती थी, आनन्द मनाती थी। वही अब भी करती है। तब उसे खेल समझती थी, अब इन सब व्यापारों को वह अनिवार्य समझती है। जीवन की कोई घटना उसके लिए नई नहीं, असम्भव नहीं। यह समझते हुए भी वह उन घटनाओं पर हँसती है, रोती है दुःख प्रकट करती है, प्रसन्न होती है ! आखिर यह सब क्यों ? प्रश्न हो सकता है। हमें इस प्रश्न का बहुत ठीक उत्तर मिला था,—“यदि ऐसा न किया जाय, तो ‘लोग क्या कहेंगे’ और फिर ऐसा क्यों न हो” अब हमारी समझ में आ गया, गृहिणी पुत्र उत्पन्न करने में जनक दुःख पाते हुए भी क्यों आनन्द से फूली नहीं मलाई। पत्नी की बीमारी पर आवश्यकता से अधिक क्या परमान रहता है ?

उदाहरणों से उसके अन्य भावों की अनुभूति का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। पर, समझदार पाठकों के लिए हम एक ही यथेष्ट समझते हैं।

हमारी गृहिणियों में आत्म-सम्मान की मात्रा कम नहीं है। यदि आपने कभी भूल से उन्हें रुष्ट कर दिया, तो याद रखिए, केवल क्षमा माँगने या “मुझे दुःख है” कहने से काम न चलेगा। आप को पूरी सज़ा भुगतनी पड़ेगी, जिससे आप फिर ऐसी गलती न करें। हमारे मित्र अपना एक अनुभव सुनाते थे। उनका कथन है कि किसी दिन अपने मित्र के साथ भोजन करते समय उन्होंने उससे कह दिया कि आज तरकारी कुछ ठीक नहीं चनी। गृहिणी ओट में बैठी सुन रही थी। उसका अपमान हो गया। फिर क्या था, मित्र महोदय को कई दिन बिना नमक की तरकारी खानी पड़ी। बेचारे भले आदमी हफ्तों बाद राजी कर पाये।

गृहिणी अपने कामों की आलोचना नहीं सुन सकती। वह जानती है कि वह जिस रीति से उनका सम्पादन करती है, उसमें इस युग के किसी मनु वगैरह को ‘मीन-मेख’ निशान का अधिकार नहीं है। जो उस मित्राश्रय को तिराया गया है, जो वह कर रही है वह सनातन है। आज-कल यदि कोई उसमें परिवर्तन करे तो उसकी श्रुति निकाले तो वह धृष्टता है। पृ - है, आर्य-संस्कृति, हिन्दू-सभ्यता धर्म-धर्म

में केवल अधिकार की अभिलाषा—उसके निर्वाह की
कला ।

गृहिणी को आप किसी प्रकार स्वार्थ-साधन का दोषी
नहीं बना सकते । वह सब से पीछे खड़ेगी, सब को सुला कर
संभालेगी, सब से पहले उठेगी । उसे न खेल-तमारे का व्यसन
है, न कपड़े-लत्ते का शौक । उसकी न अपनी कोई विशेष
गंध है, न कोई निजी आदत । उसके हाथ में आप हज़ारों
रुपये हैं, वह अपने पर एक पैसा भी खर्च न करेगी ।
आपें बर्बाद कर देंगी, तो इस लिए कि आगे चल कर लड़कों की
शिक्षा के काम आयेंगे । कपड़े खरीदेगी तो भावी बच्चों के
लिए । खाएगी तो इस लिए कि बच्चे को दूध अधिक मिले ।
पैसे खर्च करेगी तो इसलिए कि बच्चा उसके सोये बिना सोला नहीं ।
काम करेगी कि उसका प्रत्येक कार्य दूसरों के लिए होता है ।
आपें उसे तब तक नहीं छुट्टी देंगे कि वह जी रही है तो दूसरों
को दे गये होंगे हॉल के पारर, क्योंकि नर जाने पर उनको
जाना पड़ेगा । तब तक कि उसका काम हीन
नहीं है । उसे सब कुछ है । जो सुनिश्चित
है ।

आपें जानें कि यदि आप इस प्रकार हैं तो आपकी
आपें किसी भी प्रकार के काम में नहीं आ सकती हैं ।
तो ही है ।

हमारी राष्ट्र-भाषा कैसी हो

[श्रीयुत सन्तराम बी. ए.]

थोड़े दिनों से हिन्दुओं में एक ऐसी मण्डली उत्पन्न हो गई है जो हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के वहाने उसमें अरबी-फ़ारसी के मोटे मोटे गला-घोंटू शब्द हूँसने की चेष्टा कर रही है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस मण्डली के नेता श्रीयुत काका कालेलकर और इसके परम सहायक श्री हरि भाऊ उपाध्याय और श्री वियोगी हरि जी हैं। काका जी के हिन्दी लेख देखने का तो मुझे पहले कभी सुअवसर नहीं मिला, परन्तु वियोगी हरि जी, 'हरिजन-सेवक' के सम्पादक बन कर इस मण्डली में सम्मिलित होने के पूर्व जैसी सुन्दर और सरस हिन्दी लिखते थे, उसे पढ़ कर मन आनन्द-विभोर हो जाता था। उनकी पहली हिन्दी और उनकी आज-कल की हिन्दी का एक-एक नमूना मैं यहाँ देता हूँ। इससे दोनों के अन्तर का पता लग जायगा।

अपने मन में उठने वाले खयालान और जज़्बात का और बाहरी वाक्यात का उन पर किस तरह और क्या असर पड़ा, इसका दिग्दर्शन-मात्र है ।”

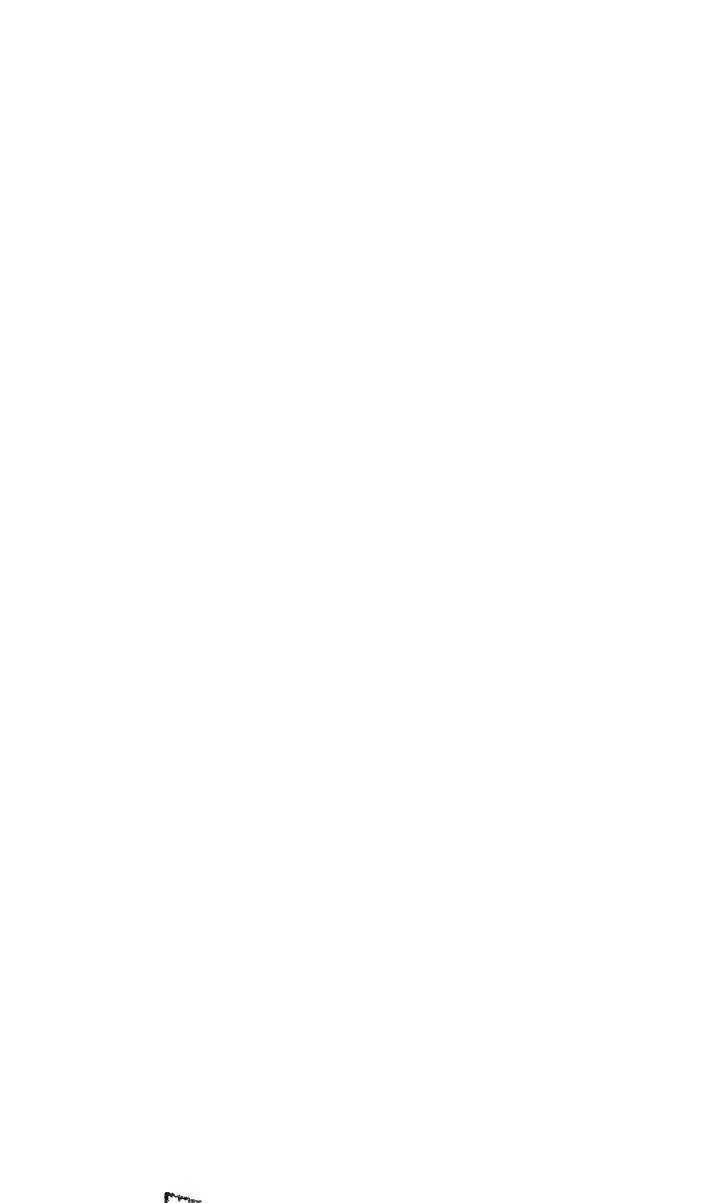
पिछले दिनों काका कालेलकर लाहौर आये थे । तब उनसे मिलने का मुझे अवसर मिला था । वे भारत में एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि के प्रचार के उद्देश से ही दौरा कर रहे थे । लाहौर में उन्होंने अनेक विद्वानों से इस विषय पर बातचीत की थी । परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है वे, कम से कम पञ्जाब के सम्बन्ध में, किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके थे । इसके बाद ‘राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार, किस लिये ?’ शीर्षक उनका एक लेख मुझे कलकत्ता के साप्ताहिक ‘विश्वमित्र’ में पढ़ने को मिला । उसके पाठ से इस राष्ट्र-भाषा-प्रचारक-मण्डली के विचारों का और जिस प्रकार की वे हिन्दी चाहते हैं उसका बहुत कुछ पता लग गया । काका जी महाराष्ट्र हैं । संस्कृत के परिडित, अंग्रेज़ी के विद्वान् और मराठी एवं गुजराती के सुयोग्य लेखक हैं । उर्दू आप नहीं पढ़ सकते । परन्तु आपके उपर्युक्त लेख में अंग्रेज़ी, मराठी एवं गुजराती का तो कदाचिन् एक भी शब्द नहीं, भरमार है केवल अरबी-फारसी के शब्दों की । जैसे कि हरगिज़, नेस्तोनावूद, मदद, तसफिया, तंगदिली, फिरकापरस्ती, ज़रिफ, अंग्रेज़ीदाँ, खतरनाक, चुनाचे, ग्रामफहम, फारसी रस्म-खत, खानदान, दरमियान, हन्फ, अजीबोगरीब



मानेंगे। हम अपनी राष्ट्र-भाषा को पण्डितों और मौलवियों की तरह संस्कृत या अरबी-फारसी के शब्दों से लदना नहीं चाहते।" इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि यदि 'जङ्गवात, गंगातात, फिम्फागम्मी' आदि शब्दों को आप बुरा नहीं समझते तो फिर मौलवी लोग और कौन-सी भाषा लिखते हैं? अरबी-फारसी को संस्कृत के बराबर का स्थान देना बड़ा भारी अन्याय है। संस्कृत का भारतीयों पर विशेष अधिकार है, उसकी रक्षा और प्रचार हमारा परम कर्तव्य है। यदि भारतीय उसकी रक्षा नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? इसका जिनना अधिक प्रचार होगा, भारतीय भाषाओं में उतनी ही अधिक एकता स्थापित होगी। यह कहना ठीक नहीं कि कोई नई भाषा नहीं बनाई जा रही है। मैं कहता हूँ, बड़े प्रयत्न-पूर्वक बनाई जा रही है। आज से पच्चीस वर्ष पहले से लेकर आज तक हिन्दी में जितनी पुस्तकें या पत्रिकाएँ छपी हैं उनमें से किसी की भी भाषा वैसी नहीं, जैसी आज काका कालेलकर जी की मण्डली ना रही है या जैसी 'मेरी कहानी' एवं 'हरिजन-म देखने को मिलती है। पंजाब में सिख गुरुओं के य में जैसी भाषा बोली जाती थी, उसका नमूना गुरुओं की वाणी में मिलता है। गुरु तेगबहादुर का एक पद है—



जैसे हिन्दी-प्रेमियों के रहने भी अभी यू० पी० उर्दू-भाषा ही है। उसी यू० पी० की भाषा को हिन्दी, हिन्दी हिन्दुस्तानी और राष्ट्र-भाषा कह कर दूसरे प्रांतों पर लादा जा रहा है। फिर आश्चर्य की बात यह है कि जिस मार्ग पर हिन्दी स्वाभाविक रूप से चल रही है उसे उधर से हटा कर दलदल में फँसाया जा रहा है। पुस्तकों और पत्रिकाओं की हिन्दी तो कदाचित् यू० पी० में कहीं भी नहीं बोली जाती। वहाँ की भाषा तो अभी मुसलमानों की दासता से निकलने का यत्न कर रही थी कि यह राष्ट्र-भाषा-प्रचारक मण्डली 'जज़्बात और वाक्यात' के गोले उस पर फेंकने लगी। मैं नहीं कह सकता, गोंडा, बस्ती एवं गोरखपुर के गाँवों में लोग 'जज़्बात और वाक्यात' जैसे शब्द समझते होंगे। फिर यह भाषा नगर और गाँव की कैसे हुई? साहित्यिक भाषा बोल-चाल की भाषा से सदा अलग रहेगी। इतिहास और विज्ञान के लिये आपको नये-नये शब्द गढ़ने ही पड़ेंगे। यदि आप उनको संस्कृत से न गढ़ कर अरबी-फ़ारसी से ढें तो 'घर से चैर अवर से नाता' की लोकोक्ति को करते हुए आप भारत की भाषा-सम्वन्धी एकता साधित न करके अधिक पृथक्त्व का ही कारण बनेंगे। अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है। उसे सीखने में बरसों लग जाते हैं। परन्तु कितनी भी कठिन पुस्तक हो, कभी कोई भारतीय उसकी अंग्रेज़ी के कठिन या दुर्बोध होने की शिकायत नहीं





रामायण और साकेत की “मन्थरा”

[श्रीयुत उदयशंकर भट्ट]

राम-चरित-मानस, कविता कला, आख्यान चातुर्य और हृदय को सान्त्वना देने वाला अमर ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य में अभी तक कोई भी और ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से उसकी बराबरी को नहीं पहुँच सका है, ऐसा आज-
के साहित्यिकों की धारणा है। एक तरह से यह रामायण की छाया होते हुए भी सर्वथा मौलिक। कई स्थल तो राम-चरित-मानस के इतने सुन्दर हैं कि वाल्मीकि के वे स्थल इसकी समता नहीं कर सकते। जहाँ इसके अन्य कारण हैं वहाँ एक यह भी है कि ‘मानस’ के लेखक को अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाने का अच्छा अवसर मिल जाता है। शायद इसी लिये कई स्थलों में तुलसीदासजी महर्षि वाल्मीकि से वाजी ले गये हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि वाल्मीकि के वे स्थल कोई

शोभा देख और राम के राज्याभिषेक की बात मुन कर उठती है और कैकयी को भड़काना प्रारम्भ कर देती है। पहले तो कैकयी उस पर नाराज़ होती है, परन्तु अन्त में बहुत कुछ समझाने पर उसकी बात मान जाती है। उसी के आदेश के अनुसार वह कोप-गृह में चली जाती है। तुलसीदासजी ने इस घटना में केवल इतना परिवर्तन और कर दिया है कि वे देवताओं द्वारा सरस्वती को मन्थरा की बुद्धि विकृत करने भेज देते हैं। बाकी सब कथानक वाल्मीकि के अनुसार चलता है। वैसे ही मन्थरा कैकयी को जाकर समझाती है और वैसे ही फटकारी जाकर अपने को कोसती हुई रानी की शुभ चिन्तना का भाव प्रकट करती है। वर्णन करते समय वाल्मीकि ने 'मूढे' और 'दुर्भगे' जैसे क्रूर शब्दों का किया है। कहा नहीं जा सकता वाल्मीकि ने श समझ कर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। 'मूढे' 'दुर्भगे' दो सम्बोधन देकर वाल्मीकि ने स्वामी भृत्य के सम्बन्ध में संशय पैदा कर दिया है। सम्भव है मुँहलगी दासी होने के कारण उसने ऐसे अपशब्दों का प्रयोग किया हो। परन्तु ऐसे अपशब्दों की भरमार न सिर्फ़ उसने कैकयी के लिए की है, दशरथ के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ अनाप-शनाप कहा है और उन्हें दुष्ट, शठ कह कर पुकारा है। तुलसीदास की मन्थरा ने सौत कौशल्या को निशाना बना कर कैकयी को उकसाया है। उसने कैकयी और

किन्तु ने तब कहा तुरंत,

हो गया भोलेपन का अन्त ?

*

*

*

*

सरलता भी है ऐसी व्यर्थ,

समझ जो सके न अर्थार्थ ।

भरत को करके घर से त्याज्य,

राम को देते हैं नृप राज्य ।

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तब न उन्हें जो गेह ।

इन दो अन्तिम पंक्तियों द्वारा कवि ने जितनी तीव्र चोट पहुँचाई है, उसने मातृत्व के हृदय को ज़ोर से भँभोड़ डाला । उस वैज्ञानिक वर्णन में जो चमत्कार है वह न वाल्मीकि के गाली देने में है, और न तुलसीदास के चातुर्य में । साकेत में मन्थरा इतना कह कर ही चली जाती है । वह न तो आगे बढ़ कर उत्तर प्रत्युत्तर करती है और न कैकयी को समझाने की चेष्टा ही करती है । हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि कैकयी इतना सब सुनने के बाद भी मन्थरा को पाटवार देती है और वह निराश होकर चली जाती है । परन्तु वह जाती है—

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तब न उन्हें जो गेह ।

कह कर । कैकयी लगेली दैट पर उन लखनूँ ॥ १८८ ॥

किन्तु ने तब कहा तुरंत,
हो गया भोलेपन का अन्त ?

* * *

सरलता भी है ऐसी व्यर्थ,
समझ जो सके न अर्थार्थ ।

भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य ।

भरत से नृप पर भी सन्देह,
बुलाया तब न उन्हें जो गेह ।

इन दो अन्तिम पंक्तियों द्वारा कवि ने जितनी तीव्र चोट पहुँचाई है, उसने मातृत्व के हृदय को ज़ोर से भँभोड़ डाला । इस वैज्ञानिक वर्णन में जो चमत्कार है वह न वाल्मीकि के गाली देने में है, और न तुलसीदास के चातुर्य में । साकेत में मन्थरा इतना कह कर ही चली जाती है । वह न तो आगे बढ़ कर उत्तर प्रत्युत्तर करती है और न कैकयी को समझाने की चेष्टा ही करती है । हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि कैकयी इतना सब सुनने के बाद भी मन्थरा को फटकार देती है और वह निराश होकर चली जाती है । परन्तु वह जाती है—

भरत से नृप पर भी सन्देह,

बुलाया तब न उन्हें जो गेह ।

कर । कैकयी लपेटी देह पर उस स्मृति

पर विचार करती है। अपनी समझ, नेकनीयती के अनुसार तर्क-वितर्क करती है। अपने मन को बहुत कुछ ढाढ़स बँधाती है, राजा और कौशल्या के भावों, उनके अब तक के वर्तावों पर सरसरी नज़र डालती है, राम के मातृत्व का विचार कर गर्व से फूल उठती है, फिर भी उसे उपर्युक्त दो पंक्तियों का सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। उसने नेत्र फाड़-कर देखा कि आकाश के बादलों में वे शब्द लिखे हुए हैं, हवा में उन्हीं शब्दों की ध्वनि गूँज रही है। रानी के कानों को मन्थरा के वे शब्द फोड़ कर पार हो रहे हैं। मानों संसार के कण-कण में एक ही ध्वनि उठ रही थी—

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।

कोई चेतना, कोई हृदय की गति, कोई तर्क, कोई विश्वास उसे इसका जवाब न दे रहा था। उसके सम्पूर्ण जीवन की उपक्रमणिका में, उसके आदि अन्त में एक ही
२ की ये दो पंक्तियाँ थीं। उसका कोई उत्तर न था, कोई
न था ।

भरत से सुत पर भी सन्देह,

बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।

‘भरत से’ शब्द पर विचार करके तो उसके आश्चर्य के जोड़ हिल चले थे। जो इतना भ्रातृ-भक्त, जो इतना विनीत, जो इतना माताओं की आज्ञा मानने वाला, जो इतना पितृ-



1

1

1

1

1

22



- 12/20/2019 12:20 PM

कर दिया था। नौकर के चारह रुपये मासिक अनिवार्य थे। महाराजिन अवश्य आती-जाती रहती थी। बाहर वाले जनों कि महाराजिन है। घर वाली को कुल मिला कर वर्ष में दो महीने भी रोटी पकाने से अवकाश न मिलता था। पड़ोस के सेवक यही कहा करते थे कि बड़े बाबू की मिश्रानी हमेशा बीमार ही रहा करती है, वह को रोज़ खाना पकाना पड़ता है, दूसरी महाराजिन का मिलना कठिन है, अपने सम्बन्धी के अतिरिक्त दूसरे का पकाया खाना भी तो इनके यहाँ नहीं खाया जाता।

बड़े बाबू सिनेमा और थियेटर से हमेशा बचते। यदि कभी किसी प्रकार फँस जाते तो व्यय बराबर करते। कभी कभी तो खर्च में पड़ोसियों का मुँह बन्द कर देते। लोग इनकी आमदनी जानते न थे। जो इनका वास्तविक वेतन जानते थे, वे भी यह कहते—‘घर के रईस होंगे। पिता माल तोड़ गया होना।’

साहित्य में मौलिकता

[श्री विनयमोहन शर्मा एम. ए., एल. एल. बी.]

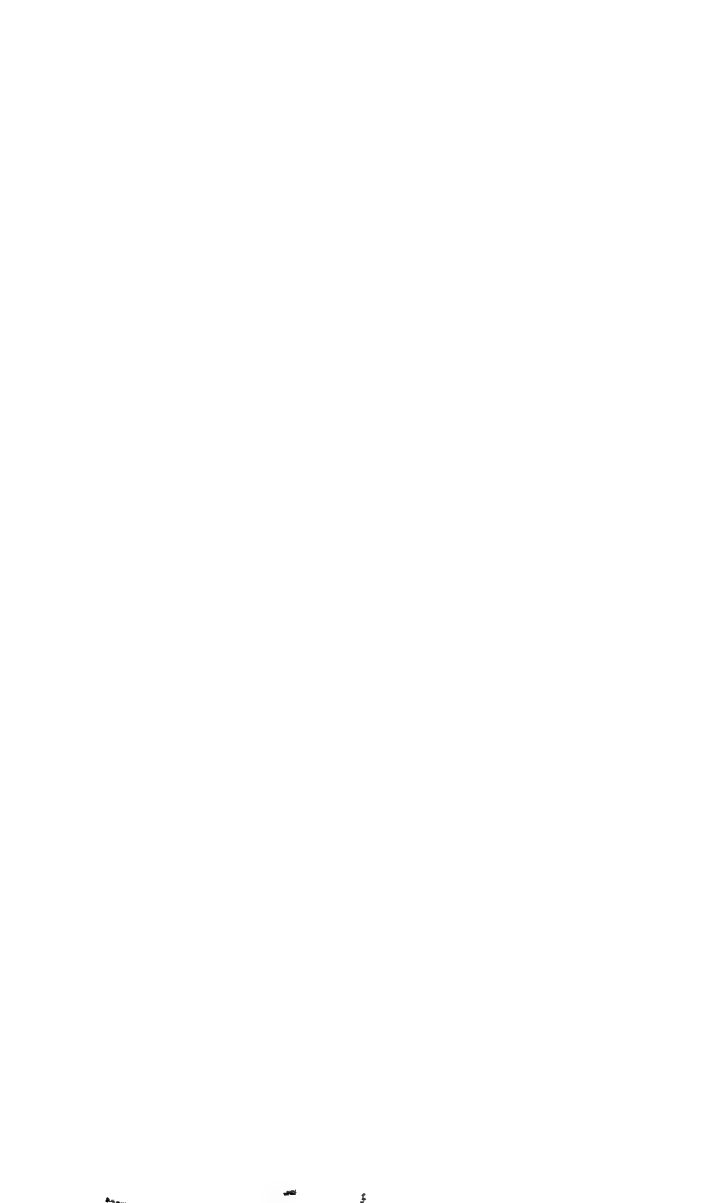
एक बार डाक्टर जानसन ने कहा था, “अब तो पुस्तकें लिखना बड़ा सरल हो गया है। ‘लेखक’ पुरानी चार पुस्तकें सामने रखकर पॉचवी की सृष्टि कर डालते हैं !” डा० जानसन

यह कथन जिस प्रकार १८ वीं शताब्दी के लिये सत्य था उसी प्रकार वह इस बीसवीं शताब्दी के लिये भी सत्य है। मौलिक पुस्तकों की सृष्टि सदा नहीं होती ! सर्वथा मौलिक रचनायें तो विश्व-साहित्य में चार-पाँच से अधिक की संख्या में नहीं मिलेगी—ऐसी मौलिक, जिनमें व्यक्त ‘भाव’ का ‘मूल’ कहीं अन्यत्र न हो। यूरोप में होमर का ‘इलियड’ मौलिक

कहलाता है पर यह बात ठीक नहीं है—उसकी समता हमारे व्यास के ‘महाभारत’ से हो जाती है। इसी प्रकार

ली० द० की ‘शकुन्तला’ जिसमें जर्मन-कवि और

ले० चक ‘गेटे’ ने ‘स्वर्ग और नरक’ के अभूत-पूर्व दर्शन किये



हो रही सुन्दरता से सजावट है—उसके, वस्त्र में भी तमें
 बड़ा मिलता है। (साहित्यकारों की माला में उम्र की
 कला नहीं बर्ती। यह प्रकृतिकृत ही सृजन-शक्त्य पर
 प्रबलित है।) प्रेरण साहित्यकार के हृदय-दर्शन में विश्व
 प्रायः 'वाता एवं अन्तर'-रूप के साथ प्रतिबिम्बित होता है।
 इसी 'साहित्यिकता' दृष्टि में है कि वह अपने हृदय को
 प्रतिबिम्बित वस्तु को कागज़ के पट पर अपनी लेखनी-
 शक्ति द्वारा खींच दे। वह अन्तर की तमबीर को जितनी
 सफ़ा से बाहर रखेगा उतना ही वह सफल साहित्यिक
 कहलाएगा। उसकी मौलिकता इसी में है कि वह अन्य
 साहित्यकार के खींचे हुये समान अनुभूति-प्रदर्शक चित्र को
 बिना देखे ही स्वयं खींच दे। यदि दुर्भाग्य-वश उसके
 अज्ञाने—'साहित्य'-चित्रशाला में उसके चित्र के समान ही
 कोई दूसरा चित्र मौजूद है तो उसके लिये वह दोषी नहीं।

ऐसा भी होता है कि एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार
 के साहित्य-चित्र को देख कर प्रेरित हो उठता है और
 उस प्रेरणा में एक ऐसा चित्र बना लेता है, जो अपने आधार-
 चित्र से उत्कृष्ट हो जाता है। साहित्यकार का इस प्रकार
 'उधार' लेना भी क्षम्य है; क्योंकि उसने 'उधार'-प्रेरणा से
 पूर्व साहित्य-चित्र में सुधार करने का प्रयत्न किया
 कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्राउनिंग के कई
 चित्रों के - पर जो चित्र तैयार किये हैं, वे

भी टिकी न रह सकीं। उठीं और विलीन हुईं। थोड़ी-सी आनन्द-क्रीड़ा का अवकाश भी उन्हें न मिला। उनका हिलना-डुलना मृत्यु के पंजे में फँसे दुःखों की छटपटाहट ही तो न थी ?

क्या यह जीवन इतना ही क्षण-भंगुर है ? मृत्यु की छाया में इसका महत्त्व इतने से अधिक कहा कैसे जाय ? आया, और आने के साथ ही क्या इसी तरह इसे विदा करना होता है ?

विवाह के अवसर पर जीवन की क्षणिकता का यह बोध वेमेल जान पड़ता है। ऐसे उत्सव में आतिशवाजी मूर्खता से भरी हुई नहीं, तो और क्या समझी जाय ? यह क्रीड़ा ठीक वही स्थान हाथ से मसल देती है, जहाँ पर जीवन की सब से बड़ी पीड़ा रहती है। यहाँ उत्सव का ताल बेसुरा प्रतीत होता है। जान पड़ता है, मनुष्य नश्वर ही नहीं, अज्ञानी भी बहुत बड़ा है। अपने छोटे क्षण को भी मधुर बनाना वह नहीं जानता।

सिर के ऊपर ही आतिशवाजी में जीवन और मृत्यु की लड़ाई का यह दुष्परिणाम और नीचे शहनाई बज रही थी। दीपकों के प्रकाश में वहाँ चहल-पहल, हास्य-विनोद, खान-पान और, और भी न जानें क्या-क्या हो रहा होगा। इसी समय किसी मंगलाचार के लिए नारियाँ मिलित कण्ठ में कोई मधुर गीत गाने लगीं।

स्वर्ग का एक कोना

[श्रीमती महादेवी वर्मा]

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्तव्य की
गुलता से निःस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी
घरातल के समान मार्ग बना देनेवाले सफेदे के वृक्षों की
पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक
दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान
परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं
देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।

उस सजीव सौंदर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो
उसे नित्य दर्शन से साधारण लगनेवाले सौंदर्य से भिन्न
किये दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता
हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, व
से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल

उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौंदर्य से भी सब का परिचय रहता है परन्तु सौंदर्य में जीना किसी कलाकार का ही काम है।

हमारे पानी पर बने हुए घर में एक सुंदर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयन-गृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माँझी सुलताना सपत्नीक चीनी की पुतली सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ अपना छोटा-सा संसार बसाये हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था जिसे पान की आकृति-वाली छोटी सी पतवार से चलाकर छोटा महमूद दोनों फूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में भूलते हुए खुली छत पर बैठकर तट के एक-एक दीपक को पानी में अनेक बगने हुए तब तक देखते ही रह जाते थे जब तक नींद भरी पलकें बंद होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं। और फिर सेवरे तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफेद बादलों की काली छाया अरण्य होकर फिर सुनहरी हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहेले रात-दिन चारी-चारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य

फूलों में मुझे दो जंगली फूल 'मजारपोश' और 'लालपोश' बहुत ही प्रिय लगे ।

मजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूलकर, अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से, अस्थि-पंजर को जैसे हुई धूलि को नंदन बना देता है और लालपोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्म-राग की स्मृति दिला जाता है । फूलों के प्रतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे । उनकी मजारपोश जैसी आँखें, लालपोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाये रखते हैं । अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे ! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाय पासा' कहकर विश्वासभरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता । उसकी गंभीरता देखकर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है, पर उसे चुननेवाले के कर्त्तव्य पालन की प्रतीक्षा है । शीत ने इन मोम के पुतलों को 'पगारों में पाला है और दक्षिण ने पागारों में । प्रायः सर्वत्र कुछ कुछ सुंदर बालक नंगे पैर पानी में धरम का ताल राने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिक्का लिपे 'सलाम जनाय पासा' कहकर पगारों में पुरारते हुए । ऐसे ही इन 'मजारपोश' और 'लालपोश' फूलों में

मादकता बिना घूमती भी बात होनी है, परंतु दोनों ही सुख हैं, दुःखमें संदेह नहीं ।

इस बिग नहींन मार्ग ने, सुंदर शरीर के मर्म में लगे हुए
 वन के समान, अपने हृदय में होगा नरक पाल रक्ता है, यह
 कभी फिर कहने योग्य कहानि कहानी है ।

शकुंतला की विदा

[श्रीधुत कैलाशनाथ भट्टनागर एन. ए.]

राजा दुष्यंत के चले जाने के पश्चात् अनसूया और प्रियंवदा पुष्प चुन रही थीं । अनसूया बोली—सखी प्रियंवदा ! गांधर्व-विवाह की विधि से कल्याण को प्राप्त हुई शकुंतला को सुयोग्य पति मिल जाने से मेरा हृदय शांत हो गया है । तथापि इतनी चिंता अवश्य है कि आज ऋषियों से विदा होकर वह राजर्षि जब अपने अंतःपुर में पहुँचेगा तब यहाँ के वृत्तांत को स्मरण रखेगा या नहीं ।

प्रियंवदा—ऐसी विशेष आश्चर्याएँ गुरु की विरोधी नहीं होतीं । किंतु अब इस वृत्तांत को सुनकर पिताजी क्या कहेंगे ?

अनसूया—मे तो समझती हूँ कि इनकी अनुमति मिल जायगी, क्योंकि सिद्धांत यही है कि "गुरुज्ञानं वा दत्त्वा दी ज्ञानी चापि" । यदि धर्म ही इस कार्य पर है तो गुरु इन सन्तानों ही उत्तरे हैं ।



उसके नाम वाली यह अँगूठी दिखा देना ।

यह सुनकर शकुंतला काँप उठी । परंतु दोनों सखियों ने कहा—भय मत करो । अति स्नेह में दुःख की आशंका होती है ।

अधिक विलंब हो जाने से शार्ङ्गरव ने कहा—अब दुपहर होने लगी । शीघ्रता करो ।

शकुंतला ने पिता के गले लगकर, आश्रम की ओर देखते हुए, कहा—तात ! मैं तपोवन को फिर कब देखूँगी ?

कएव—जब चिरकाल तक चक्रवर्ती पति के साथ रहकर महारथी दौप्यंति का विवाह कर लेगी तब, स्वामी से कुटुंब का भार पुत्र को मिल जाने पर, पति के साथ इस शांत आश्रम में तू फिर आएगी ।

फिर सब ने मिलकर शकुंतला को विदा किया । जब वह वृक्षों की ओट में छिप गई तब सब लोग लौट आये । सब के हृदय शोक-ग्रस्त थे । कएव ने “पुत्री पराया धन है” कहकर हृदय को आश्वासन दिया ।

परशुराम-राम-संवाद

[श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर एम. ए.]

परशुराम उत्तेजित होकर जनकपुरी पहुँचे । दास-दासियों ने राम को सूचना दी कि अपने गुरु शिव के धनुर्भंग से क्रोधित परशुराम आपको खोज रहे हैं ।

यह सूचना पाकर राम प्रसन्न हुए । कहने लगे कि त्रिपुरारि के शिष्य, वेदाभ्यास से शुद्ध-चरित, भृगुवंश के स्वामी, महाभाग्यशाली, परशुराम के दर्शन करने चाहिएँ । वे भी मुझे देखने को इच्छुक हैं । परन्तु नव-विवाहिता सीता ने, भय के कारण, उच्च कुल के योग्य लज्जा को त्यागकर, राम को रोकना चाहा । सखियों ने भी मना किया । परंतु राम कहने लगे—काम मे विलंब करने से विरसता होती है ।

सीता की सखियाँ बोलीं—सुना है कि परशुराम ने बारंबार पृथिवी को क्षत्रियों से रहित करके अपना मनोरथ पूर्ण किया है ।

इन बातों से राम कय डरने लगे थे ? उन्होंने कहा—क्या एक दोप से उस महान् ज्ञान-निधि का माहात्म्य न्यून हो सकना है जिसने पृथ्वी पर क्षत्रिय-वंश के राजाओं का इक्कीस बार सर्वनाश किया; बाहु-बल द्वारा कार्तिकेय अर्जुन को जेत कर त्यागि और प्रशंसा प्राप्त की; अश्वमेध में गुरु वसुप को द्वीपों सहित पृथिवी दान दी और जो अब ऐसे स्थान पर तपस्या करता है जो समुद्र को परशु से हटाकर प्राप्त किया गया है।

सीता और उनकी सखियों को राम आश्वासन दे रहे थे कि परशुराम 'दत्तारथ का पुत्र राम कहाँ है ?' कहते हुए अंतःपुर में आते दिखाई पड़े।

राम ने उन्हें देखकर कहा—अहा ! ये त्रिभुवन के अद्वितीय वीर भार्गव मुनि दुष्प्राप्य तेजराशि के समान हैं; ये प्रताप और तपस्या से प्रकाशमान शरीर धारण किये हुए हैं। प्रचंड वीर-रस की तो ये मूर्ति ही हैं।

इतने में परशुराम पान ही पहुँच गये। उनके कंधे पर चमकीला परशु तथा तर्जनी था। वे जटा धनुष दीर्घान और मृगहोला धारण किये हुए थे। उनके शरीर से त्रिपट हाथ में शर, चमक रहा था। उनका एक बार मध्य तीक्ष्ण शक्ति से मिथित शोभा का विस्तार कर रहा था।

राम ने सीता का दृष्ट न रहन ही नजर रहन को कहा।

प्रकार मेरे मन तो हर रहा है। सब कागता हूँ, मेरा आलिंगन करने की इच्छा होती है।

यह सुनकर सीता की मणियाँ प्रसन्न होकर सीता से बोलीं—राजकुमारी ! राम के भाग्य को देखो। तुम सदा लज्जा के कारण पराङ्मुख होकर अपने को डगती हो।

सीता आँसू भरकर, दीर्घ साँस लेकर, चुप रहीं।

राम—भगवन् ! आलिंगन तो मेरे दमन-कार्य के विपरीत होगा।

सीता—धीरता और स्निग्धता-सहित इनकी विनय से शोभित है।

अब तो परशुराम पर तीव्र प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे दूसरों के गुणोत्कर्ष के जानने पर भी सौजन्य से इस राजकुमार का अंतःकरण पवित्र है। मंद-बुद्धिवालों से इसका महा-गर्व विनय के कारण दुर्लभ है; निपुण बुद्धिवालों द्वारा ग्राह्य है। पता नहीं चलता, यह अलौकिक चरित्रवाला वीर बालक कौन है। यह असीम महत्ता से उत्कृष्ट है। इसका शरीर लोकों को अभय-दान की पुण्य-राशि के योग्य है। इसका शरीर लक्ष्मी, तेज, धर्म, मान, विजय और पराक्रम आदि सात्त्विक गुणों से उज्ज्वल हो रहा है। अथवा लोकों की रक्षा

लिए धनुर्वेद ने शरीर धारण किया है; वेद की रक्षा के लिए क्षत्रिय-धर्म-युक्त शरीर प्राप्त किया है। शक्तियों का समुदाय अथवा गुणों का समूह प्रकट होकर उपस्थित है। इस प्रकार

1

1

1



मुझे अपूर्व दुःख होता है। वैसे यह तो तूने सुना होगा कि मैंने अपनी माता का सिर काट डाला था। और क्षत्रिय-कुलों पर क्रोध के कारण, रे मूढ़ ! मैंने उत्पन्न होनेवाले बालकों को भी टुकड़े-टुकड़े कर दिया था; सब राजवंशों का इक्कीस बार नाश किया था। उनके रक्त से सरोवर भर गये थे। उनमें स्नान और पितृ-तर्पण के महासुख से मैंने क्रोधाग्नि को शांत किया था। भला मेरे स्वभाव को कौन नहीं जानता ?

राम—नृशंसता तो पुरुष का दोष है; उसकी स्थावा कैसी ?

परशुराम रुष्ट होकर बोले—अरे क्षत्रिय बालक ! तू बड़ा धृष्ट है। धनुष खींच और बाण छोड़। मैं चाहता हूँ कि तू पहले प्रहार कर। चमकीले परशु से मेरे प्रहार करने पर तो तुरंत ही तेरा शरीर रूंड-मात्र रह जायगा।

इसी समय वहाँ जनक और शतानंद आ पहुँचे। वे परशुराम से बातचीत करने लगे। उन्होंने राम को कंकण खोलने के लिए अंतःपुर में जाने को कहा। परशुराम से आज्ञा लेकर रामचंद्र अंतःपुर में गये।

वशिष्ठ और विश्वामित्र आदि सब परशुराम को समझाने। वशिष्ठ और विश्वामित्र ने कहा—हम उस वीर के पुरोहित हैं जो यज्ञ आदि के शत्रुओं का दमन करने से इंद्र का अति-प्रिय मित्र है तथा जिससे पृथिवी वैसे ही उज्ज्वल



1000

1000

क्या है, औल इछका, औल इछका ?” खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्ही-नन्ही उँगलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता, और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर कहता--“बच्चों को वहलानेवाला, खिलौनेवाला।” सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयवहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे--चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला--“मेला घोला कैछा छुंदल पे !”

मुन्नू बोला--“औल देखो, मेला आती कैछा छुंदल पे !”

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मा, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अंत में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा--“अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं ?”

मुन्नू--“दो पैछे में। थिलौनेवाला दे गया पे।”

रोहिणी सोचने लगी--इतने सस्ते कैसे दे गया है ? कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना निश्चय है।

सुनाने पड़ता — “बच्चों को बतलाने वाला, मुग्धीने वाला !”

गोहिणी ने भी मुग्धीवाले का नाम स्मरण सुना। तुरंत ही उसे गिबलीनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन ही मन कहा— गिबलीनेवाला भी इसी तरह गा गाकर गिबलीनेवाला करता था।

गोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली—“जरा उमर मुग्धीवाले को बतलाओ तो, पुत्र-मुत्र के लिये ले लूँ। क्या जाने वह फिर दूधर आए, न आए। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलते निकल गए हैं।”

विजय बाबू एक गमाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिए हुए वे दरवाजे पर आकर मुग्धीवाले से बोले—“क्यों भई, किस तरह दंते हो मुग्धी ?”

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पाजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुंड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—“अम बी लेंदे मुली, औल अम बी लेंदे मुली।”

मुग्धीवाला हर्ष-नादगद हो उठा। बोला—“सबको दूँगे भैया। लेकिन ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायेंगे। बेचने तो आए ही हैं, और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबूजी, क्या पूछा था आपने, कितने में

गता। उसके पास कई रंग की मुरलीयाँ थीं। जैसे जों रंग परांर करते, मुरलीवाला उगी रंग की मुरली निकाल देता।

“यह मुरली अच्छी मुरली है, तुम मुरली ले लो बाबू, राजा बाबू, तुम्हारे लायक तो यग यह है। हाँ, भैया, तुमको क्या दूँगे। ये लो।...तुमको बेसी न चाटिण, बेसी चाटिण, यह नारंगी रंग की, अच्छा, यही लो। जेमे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी पैसा हूँ। तुम ले आण पैसे?” अच्छा, ये लो, तुम्हारे लिये मने पढते ही से यह निकाल रखी थी। तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़कर, पैरों में लिपटकर, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू। हाँ, फिर आओ। अब की बार मिल जायँगे।...दुअर्धा है? तो क्या हुआ, ये दो पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब? मिल गए पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है? सब ले चुके? तुम्हारी मा के पास पैसे नहीं हैं? अच्छा, तुम भी यह लो। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।”

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

[३]

आज अपने मकान में बंठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया। फिर वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है। भला

उत्पन्न हैं । तुझसे नहीं बन होगा । मित्रों में और भी बहुत
लगेगी ।”

अविश्वसनीयता के साथ मित्रों-पारोपे ने कहा—“मैं भी
अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था । मकान, जहाज,
गाड़ी चोरे, नौकर चोर, सभी चोर थे । स्त्री थी; छोटे-छोटे
दो बच्चे भी थे । मेरा सब सोने का संसार था । राज्य संपत्ति
का वैभव था, भीतर संगोष्ठीक मुक्त था । स्त्री संपूर्ण थी,
मेरा प्राण भी । बच्चे मेरे सुख थे, मेरे सोने के सजीव
मिलौने । उनकी अटवैलियों के माँगे घर में होता-रत मना
रहता था । समय की गति । विचलता ही लीला ! अब कोई
नहीं है । दादी, प्राण निकाल नहीं निकले । इमीतिसे अपने
उन बच्चों की खोज में निकला हूँ । वसव अतः मैं योगे तो यहीं
रही । आगिर कहीं न कहीं जन्म ही योग । इस तरह रहता,
तो धुल धुलकर मरता । इस तरह सुख सतोष के साथ मरूंगा ।
इस तरह के जीवन में कभी कभी अपने उन बच्चों की एक
भलक सी मिल जाती है । ऐसा जान पड़ता है, उस व इन्हीं
में उछल उछलकर हँस खेल रहे हैं । पत्नों की कमा बाँट रहे हैं,
आपकी दया से पैसे तो काफी हैं । जो नहीं है, इस तरह उसी
को पा जाता हूँ ।”

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा । देखा—उसने
आँखें आँसुओं में डूबी हैं ।

मिठाईवाला

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गए । रोहिणी से लिपटकर,
 अपना अंचल पकड़कर बोले—“अम्मा, मिठाई !”

“मुझसे लो ।”—कहकर, तत्काल कागज़ की दो पुड़ियों,
 मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं ।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए ।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा—“अब इस बार ये
 पैसे न लूंगा ।”

दादी बोली—“अरे-अरे, न न, अपने पैसे लिए जा भाई ।”

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक, मृदुल
 स्वर में—“बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला !”

हैं अनेक रचनाएँ लिखी हैं। इन कविताओं में देश में आने वाले युग की पूर्व-सूचना है। क्या अच्छा हो यदि इन क्रांति-शी कवियों की भविष्यवाणी सत्य न हो, अर्थात् पीड़ित अपने अधिकार पा सकें, पर संसार को भयानक क्रांति-ज्वाला में न जलना पड़े। महात्मा गांधी का अध्यात्मवाद संसार पर विजयी हो। पीड़ित प्राणों की प्रतिहिंसा विद्रोह की आग बन कर न प्रकट हो। पर क्या ऐसा हो सकेगा? क्या पूंजीवाद अपनी मौत आप भर सकेगा?

हमारी आधुनिक कविता यहाँ आकर ठहर गई है। वही शीरो के यशोगीत से प्रारंभ हुई, देवता-पर फूल चढ़ाने लगी, नारी के शरीर से लिपटी, हिंदू-जाति का दर्पण बनी, राष्ट्र का शंखनाद बनी, रहस्य की भाँकी बनी, जड़ में चेतनता के दर्शन कराने वाली दूरवीन बनी और अब क्रांति की दृष्टिका बनी है।

[श्री हरिश्चंद्र पेंस]

ये परन्तु हर कहीं स्वाभाविक परिणाम पर पहुँचे बिना, कोई नो लाभ हासिल हुए बिना, वे शिथिल कर दिये गये। ऐसा नही होता है? क्या किसानों की शिकायतें दूर हो जाती हैं? क्या उनकी दशा में वस्तुतः कोई परिवर्तन हो जाता है? बिनकुल नहीं; बल्कि असफल होने के बाद तो अत्याचार और भी अधिक होने लगता है, ताकि वे फिर कभी सिर उठाने का नाहक न करें। "असफल योद्धा विद्रोही कहलाता है। नकल होने पर वही सिंहासनारुढ़ होता।" वास्तव में किसान-आन्दोलनों की अकाल मृत्यु के तीन प्रमुख कारण हैं:—

(१) आन्दोलन का पथ-भ्रष्ट किया जाना।

(२) सहायता और सहानुभूति बिना आन्दोलन का परिणित हो जाना।

(३) नेताओं की धोखेबाजी।

किसानों को समष्टि बनने के लिये आवश्यक है कि उन्हें कोई प्रतीक दिशा ज्ञात करना पड़े। जहाँ उनकी उन्नति के लिये कार्य हो जायगा। बड़े-बड़े मिलों का बहिर्वास करना व किसानों को प्रत्यक्ष की सहाय में आनेवाली आन्दोलन को देना। यह सब करने के लिये किसानों को चाहिए कि वे आन्दोलन को एक सार्वजनिक कार्य के रूप में देखें। और मिलों के साथ-साथ उनके प्रत्यक्ष लक्ष्य के लिये कार्य करें। किसानों को चाहिए कि वे अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप से निर्धारित करें। और यह स्पष्ट लक्ष्य ही है जो किसानों को सहायता और सहानुभूति के लिये आकर्षित करेगा।

लेखकों का परिचय



सं० १९३७ में हरिश्चंद्र जी के मित्रों ने, आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में, आपको भारतेन्दु की उपाधि से सुशोभित किया।

श्रीयुत वालमुकुंद गुप्त

(सं० १९२०-१९६४)

गुप्तजी गुरियानी गाँव (ज़िला रोहतक) के रहनवाले थे। हिंदी-गद्य-लेखकों में गुप्त जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पहले आप उर्दू के लेखक थे। आप कई वर्षों तक 'कोहनूर' और 'अवध-पंच' का संपादन करते रहे। कालाकांकर के प्रसिद्ध देश भक्त और हिंदी प्रेमी राजा रामपालसिंह ने उन दिनों "हिंदुस्तान" पत्र प्रकाशित कराया था; गुप्त जी उसके सहायक संपादक नियुक्त किये गये। पं० प्रताप-नारायण मिश्र के सहयोग से आप हिंदी के उच्च लेखक बन गए। 'भारत-मित्र' पत्र द्वारा आपने हिंदी की अच्छी सेवा की। आपकी भाषा मुहावरेदार और चुटकीली होती थी। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भाव प्रदर्शन करने में आप निपुण थे। लेखन-शैली व्यावहारिक और चलती हुई है; भाषा में कहीं भी लचकपन नहीं आया है। कथोपकथन का ढंग तो इतना निराला है कि पाठकों को प्रत्यक्ष वार्तालाप का अनुभव होने लगता है। उस समय 'भारत-मित्र' में प्रकाशित 'शिव शंभु' के चिह्ने इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त गुप्त जी सफल समालोचक भी थे। भाषा पर आपका पूरा अधिकार







1000 1000